S. no 5

S. m. 5

॥ ओ म् ॥

महर्षि कपिल प्रणीत

सांख्यदर्शन ।

SANKH PHELASPHE

परमहंस परिव्राज का चार्य श्री १०८ स्वामी
अनुभवानन्द सरस्वती जी के शिष्य
श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती
कृत अनुवाद सहितम् ।

और

पंडित शंकरदत्त शर्मा ने अपने
"शर्ममेशीन प्रिंटिंग प्रेस" मुरादाबाद में
छापकर प्रकाशित किया ।

चतुर्थ बार १००० मूल्य ॥।)

ओ म्

S.m.5

महर्षि कपिल प्रणीत

सांख्यदर्शन ।

SANKH PHELASPHE

परमहंस परिव्राज का चार्य श्री १०८ स्वामी
अनुभवानन्द सरस्वती जी के शिष्य
श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती
कृत अनुवाद सहितम् ।

और

पंडित शंकरदत्त शर्मा ने अपने
"शर्मामेशीन प्रिंटिंग प्रेस" मुरादाबाद में
छापकर प्रकाशित किया ।

चतुर्थ बार १००० मूल्य ॥।)

* ओ३म् *

सांख्य फिलासोफी-

भाषा-टीका।

प्रथमोऽध्यायः

प्रश्न-मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उत्तर-अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः ॥ १ ॥

अर्थ-तीन प्रकार के दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाना प्राणी मात्र का मुख्य उद्देश्य है।

प्र०-तीन प्रकार के कौन से दुःख हैं ?

उ०-आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।

प्र०-आध्यात्मिक दुःख किसको कहते हैं।

उ०-जो दुःख शरीरान्तर में उत्पन्न हो, जैसे—ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्लेश, रोगादि।

प्र०-आधिभौतिक दुःख किसको कहते हैं ?

उ०-जो अन्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न हो, जैसे—सर्पके काटने या सिंहसे मारे जाने या मनुष्यों के परस्पर युद्धसे जो दुःख उपस्थित हो उसे आधिभौतिक कहते हैं।

प्र०-आधिदैविक दुःख किसको कहते हैं ?

उ०-जो दुःख दैवीशक्तियों अर्थात् अग्नि वायु या जल के न्यूनाधिक्य से उपस्थित हों उनको आधिदैविक कहते हैं।

प्र०—समय के विचार से दुःख कितने प्रकार के होते हैं?

उ०—तीन प्रकार के, अर्थात् भूत, वर्त्तमान और अनागत।

प्र०—क्या इन तीनों के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये?

उ०—केवल अनागत के लिये पुरुषार्थ करना योग्य है क्योंकि भूत तो व्यतीत हो जाने के कारण नाश हो ही गया और वर्तमान दूसरे क्षण में भूत हो जाता है अतएव यह दोनों स्वयं नाश हो जाते है केवल अनागत का नाश करना आवश्यकीय है।

प्र०-जो दुख अभी उत्पन्न नहीं हुआ या जो क्षुधा अभी नहीं लगी उसका नाश किस प्रकार हो सकता है?

उ०-"कारणाभावात् कार्याभावः" (वैशेषिक)—अर्थ-कारण के नाश होने से कार्य का नाश हो जाता है अतएव दुःख के कारण का नाश करना चाहिये क्योंकि कारण के नाश से अनागत दुःख का नाश हो जाता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है "हेयंदुःखमनागमतम्" अर्थ—आगामी दुःख 'हेय' अर्थात् त्याग ने योग्य है उसी के दूर करने का प्रयत्न करो।

प्र०—इस सांख्यशास्त्र में किस वस्तु का वर्णन किया गया है?

उ०—'हेय' अर्थात् दुःख 'हान' अर्थात् दुःखनिवृत्ति 'हेय हेतु' अर्थात् दुःख के उत्पन्न होने का कारण। 'हानोपाय' अर्थात् दुख के नाश करने का उपाय।

प्र०—क्या दुःख अन्न और औषधि इत्यादि से दूर नहीं होता?

उ०—दुःख की अत्यन्त निवृत्ति किसी प्राकृतिक वस्तु से नहीं हो सकती जैसा कि लिखा है:—

न दृष्टात्तत् सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥२॥

अर्थ—दृश्य पदार्थों अर्थात् औषध्यादि द्वारा दुःख का अत्यन्ताभाव होजाना सम्भव नहीं क्योंकि [illegible] पदार्थ के संयो

ग से दुःख दूर होता है उस के वियोग से वही दुःख फिर उपस्थित हो जाता है जैसे अग्नि के निकट बैठने या कपड़े के संसर्ग से शीत दूर होता है और अग्नि या कपड़े के अलग होने से फिर वही शीत उपस्थित होजाता है अतएव दृश्य पदार्थ अनागत दुःख की औषधि नहीं।

प्र०—क्या दृश्य पदार्थ दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का कारण नहीं ?

उ०—नहीं।

प्र०—प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥३॥

अर्थ—नित्य प्रति क्षुधा लगती है उसकी निवृत्ति भोजन से होजाती है इसी प्रकार और दुःख भी प्राकृतिक वस्तुओं से दूर हो सकते हैं अर्थात् जैसे औषध से रोग की निवृत्ति होजाती है अतएव वर्तमान काल के दुःख दृष्ट पदार्थों से दूर होजाते हैं इसी को पुरुषार्थ मानना चाहिये।

उ०—सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्वासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रथम तो प्रत्येक दुःख दृष्ट पदार्थों से दूर ही नहीं होता क्योंकि सर्व वस्तु प्रत्येक देश और काल में प्राप्त नहीं हो सकतीं। यदि मान भी लें कि प्रत्येक आवश्यकीय वस्तुयें सुलभ भी हों तथापि उन पदार्थों से दुःख का अभाव नहीं हो सकता, केवल दुःख का तिरोभाव कुछ काल के लिये हो जायगा अतएव बुद्धिमान् को चाहिये कि दृष्ट पदा ों से दुःख दूर करने का प्रयत्नन करै प्रत्युतदुःख के मूलोच्छेद करने का प्रयत्न करै। जैसा कि लिखा है:—

उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥५॥

अर्थ—मोक्ष सब सुखों से परे है और प्रत्येक बुद्धिमान् सब से परे पदार्थ की ही इच्छा करता है इस हेतु से दृष्ट

पदार्थों को छोड़कर मोक्ष के लिये प्रयत्न करें यही प्राणियों का मुख्य उद्देश्य है।

अविशेषश्चोभयोः ॥६॥

अर्थ-यदि मोक्ष को अन्य सुखों के समान माना जावै तो दोनों बातें समान हो जावेंगी, परन्तु क्षणिक सुख को महाकल्प पर्यन्त सुख के समान समझना बड़ी मूर्खता है।

प्र०—तुम जो मोक्ष को सब से उत्तम जानते हो और मोक्ष छूटने को कहते हैं, छूटना वही है जो बंधन में हो, क्या यह जीव बन्धन में है ? यदि कहो कि बंधन में है तो वह बन्धन उसका स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक ?

उ०—न स्वभावतोबद्धस्यमोक्षसाधनोपदेशविधिः॥७॥

अर्थ-दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं क्योंकि जो गुण स्वभाव से होता है वह गुणी से अलग नहीं होता अतएव दुःख के नाश के कथन से ही प्रतीत होता है कि दुःख जीव का स्वभाविक गुण नहीं क्योंकि वह गुणी से पृथक् हो ही नहीं सक्ता।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ—स्वाभाविक गुण के अविनाशी होने से जिन मन्त्रों में दुःख दूर करने का उपदेश कियागया है वह सब अप्रमाण नहीं रहेगें, अतएव दुःख जीव का स्वभाविक गुण नहीं है।

नाशक्योपदेशविधिरुपादिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९ ॥

अर्थ—निष्फल कर्म्म के निमित्त वेद में कभी उपदेश नहीं होसक्ता क्योंकि असम्भव के लिये उपदेश करना भी न करने के समान है, अतएव दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं किन्तु नैमित्तिक है।

(प्र०) शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥१०॥

अर्थ—स्वाभाविक गुण का भी नाश होजाता है, जैसे श्वेत वस्त्र का श्वेत रंग स्वाभाविक गुण है परन्तु वह मैला या सुर्ख होजाने से नष्ट होजाता है इसी प्रकार बीजमें अंकुर लाने का स्वाभाविक गुण है परन्तु वह बीज के जला देने से नष्ट हो जाता है अतएव यह विचार करना ठीक नहीं।

(उ) शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यानाशक्योपदेशः ॥११॥

अर्थ-उपर्युक्त उदाहरण स्वाभाविक गुण के अत्यन्ताभाव का सर्वथा अयुक्त व अप्रामाणिक है क्योंकि यह तो शक्ति के गुप्त व प्रकट होने का उदाहरण है क्योंकि यदि रजक के धोने से पुनः वह वस्त्र श्वेत न हो जाता तब यह ठीक होता, इसी प्रकार जला हुआ बीज अनेक ओषधियों के मेल से ठीक होजाता है अतएव यह कथन ठीक नहीं कि स्वाभाविक गुण का भी नाश हो सकता है।

(प्र०) यदि मानलिया जाय कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं तो किन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है? मेरी संमति में तो सृष्टिकाल में दुःख उत्पन्न होता है और सृष्टि के नाश से दुःख नष्ट होजाता है इस हेतु से दुःख का कारण काल है।

[उ०] न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥ १२ ॥

अर्थ—दुःख काल के कारण से नहीं होसकता क्योंकि काल सर्वव्यापक और नित्य है और उस का सब से सम्बन्ध है अतएव काल के हेतु से तो बन्धन और मुक्ति हो नहीं सकती क्योंकि यदि काल ही दुःख का हेतु माना जावे तो सब ही दुःखी होने चाहिये।

(प्र०) तो क्या देशयोग से दुःख उत्पन्न होता है?

क्योंकि बहुत से लोग यह कहते हैं कि अटक पार जाने से पाप होता है और उस से दुःख उत्पन्न होता है।

[उ०] न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥ १३ ॥

अर्थ—चूंकि काल के अनुसार देश भी सर्वव्यापक और सब से सम्बन्ध रखनेवाला तथा नित्य है इसलिये देशयोग से बन्धन नहीं होसकता।

(प्र०) तो फिर क्या अवस्था अर्थात् दशाओं के हेतु से दुःख उत्पन्न होता है क्योंकि तीन अवस्था अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति या बाल्यावस्था या युवावस्था या वृद्धावस्था इन छः दशाओं में किसके हेतु से दुःख और बन्धन होता है ?।

[उ०] नावस्थातो देहधर्म्मत्वात् तस्याः ॥ १४ ॥

अर्थ—इन दशाओं से भी दुःख उत्पन्न नहीं होसकता क्योंकि बाल, युवा और वृद्धावस्था शरीर के धर्म हैं। यदि अन्य के धर्म से अन्य का बन्धन माना जाय तो सर्वथा अन्याय है क्योंकि किसी दूसरे बन्धन युक्त मनुष्य के धर्म्म से कोई मुक्त बन्धन में पड़जायगा और मुक्त के धर्म से कोई बद्ध मुक्त होजायगा।

(प्र०) क्या इन अवस्थाओं से जीव का कोई सम्बन्ध नहीं ये केवल शरीर की हैं।

[उ०] असंगोऽयं पुरुष इति ॥ १५ ॥

अर्थ–यह जीव सर्वथा असंग है इस का बाल्य वृद्ध और युवावस्था से किञ्चित् सम्बन्ध नहीं।

(प्र०) तो क्या दुःख अर्थात् बन्धन के उत्पन्न होने का हेतु कर्म है ?।

[उ०] नकर्मणाऽन्यधर्म्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥ १६ ॥

अर्थ–वेदविहित या निषिद्ध कर्मों से जीव का बन्धनरूपी दुःख उत्पन्ननहीं होता क्योंकि कर्म करना भी शरीर वा चित्त

का धर्म है, द्वितीय कर्म शरीर से होगा और शरीर कर्म के फल से होता है तो अनवस्था दोष उपस्थित होजायगा । तीसरे यदि शरीर का कर्म आत्मा के बन्धन का हेतु माना जावे तो बन्धन में हुये जीव के कर्म से मुक्त जीवका बन्धन होना सम्भव होसकता है अतएव कर्म द्वारा बन्धन उत्पन्न नहींहोता।

(प्र०) तो हम दुःखरूप बन्धन भी चित्त को ही मानलेंगे, उस दशा में चित्त के कर्म द्वारा चित्त को बन्धन होने से कोई दोष नहीं रहेगा ।

(उ०) विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ १७ ॥

अर्थ—यदि दुःख योग रूप बन्धन केवल चित्त का धर्म माना जाय तो नाना प्रकार के भोग में संसार प्रवृत्त है, नहीं रहना चाहिये क्योंकि जीव को दुःख होने के बिना ही यदि दुःख का अनुभव कर्त्ता माना जाय तो सारे मनुष्य दुःखी हो जायगे क्योंकि जिस प्रकार दुःख का सम्बन्ध न होने से जैसे दुःखी प्रतीत होता है एसेही दुःख के न होनेपर सब लोग दुःखी होसकते हैं अतएव कोई दुःखी या कोई सुखी इस प्रकार अन्य प्रकार का भोग नहीं होसकेगा ।

(प्र०) क्या प्रकृति के संयोग से दुःख होता है ? ।

[उ०] प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥१८॥

अर्थ-यदि बन्धन का कारण प्रकृति मानो तो प्रकृति स्वयं ही स्वतन्त्र नहीं तो परतन्त्र प्रकृति किसी को किस प्रकार बान्ध सकती है क्योंकि जब तक प्रकृति का संयोग न हो तब तक वह किसी को बांध ही नहीं सकती और संयोग दूसरे के अधिकार में है ।

(प्र०) क्या ब्रह्म ही उपाधि से जीव रूप होकर अपने आप बंध गया है ? ।

उ०—न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥ १९ ।

अर्थ—जो ईश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है उसका जो प्रकृति के साथ सदैव सम्बन्ध है इसलिये वह जीवरूप हो कर दुःख नहीं पा सकता, क्योंकि उस के गुण एक रस हैं इस कारण ब्रह्म को उपाधिकृत बन्धन नहीं, वरन जीव अल्पज्ञ नित्य पदार्थ है उसी का प्रकृति के साथ योग होता और वह मिथ्याज्ञान के कारण बद्ध हो जाता है जैसा कि आगे कथन होगा।

प्र०-तो क्या अविद्या से ब्रह्मही जीव हो गयाहै और इस दुःख की उत्पत्ति केवल अविद्या से है ?

उ०—नाविद्यातोऽप्यवस्तुनाबन्धायोगात् ॥२०॥

अर्थ—अविद्या से जो कोई पदार्थ ही नहीं, बन्धनका होना सम्भव नहीं क्योंकि आकाशके फूलकी सुगन्धि किसीकोभी नहीं आती यदि मायावादी जो अविद्या उपाधि से जीव को बन्धन मानते हैं अविद्या को वस्तु अर्थात् द्रव्य मानते हैं तो उनका सिद्धान्त उड़ जायगा जैसा कि लिखा है :—

उ०—वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥ २१ ॥

अर्थ—यदि अविद्या को वस्तु मान लिया जावे तो उनके एक अद्वैत ब्रह्म के सिद्धान्त का खण्डन हो जायगा क्योंकि एक वस्तु तो ब्रह्म है दूसरी अविद्या हो गई इसलिये अद्वैत न रहा।

प्र०-इसमें क्या दोष है ?

उ०—विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥ २२ ॥

अर्थ—अद्वैतवादी ब्रह्म को सजातीय अर्थात् बराबर जाति वाले विजातीय विरुद्ध जाति वाले स्वगत अपने भाग इत्यादि के भेद से रहित मानते हैं और यहां अविद्या के वस्तु माननेसे

विजाति अर्थात् दूसरी जाति का पदार्थ उपस्थित होने से अद्वैत सिद्धान्त का खण्डन होगया।

प्र०—हम अविद्या को वस्तु और अवस्तु दोनों से पृथक् अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं जैसे—

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि दोनों से पृथक् मानो तो यह दोष आजायगा।

उ०—न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस प्रकार अविद्या वस्तु अवस्तु से पृथक् नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सत् असत् से पृथक् हो और यहां यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि तुम्हारी अविद्या के अनिर्वचनीय होने में कोई प्रमाण है या नहीं ? यदि कहो प्रमाण है तो वह प्रमेय होगई फिर अनिर्वचनीय किस प्रकार हो सकती है यदि कहो प्रमाण नहीं तो उस के होने का क्या प्रमाण हैं ?

प्र०—न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥ २५ ॥

अर्थ—हम षट् पदार्थों को वैशेषिक के सदृश नहीं मानते और न्याय के समान सोलह भी नहीं मानते हैं इस कारण हमारे मत में सत् असत् से अविद्या का विलक्षण होना ठीक है और वही बन्ध का हेतु है।

उ०—अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथाबालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६ ॥

अर्थ—तुम पदार्थों की संख्या का नियम मानो चाहे न मानो परन्तु सत् असत् से पृथक् कोई पदार्थ बिना युक्ति मान नहीं सकते। नहीं तो इस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना भी ठीक हो सकता है। जिस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना युक्ति शून्य होने से प्रमाणिक नहीं इसी प्रकार तुम्हारा कहना भी असंगत है।

प्र०—तो क्या जीव अनादि वासना से बन्धन में पड़ा है ?

उ०—नानादिविषयोपरागानिमित्तकोऽप्यस्य ।२७।

अर्थ—इस आत्मा को अनादि प्रवाहरूप वासना से बन्धन होना भी असम्भव मालूम होता है क्योंकि निम्न लिखित प्रमाण से अशुद्ध प्रतीत होता है।

न वाह्याभ्यन्तरयोरुपरंज्योपरंजकभावोऽपि देशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥२८॥

अर्थ—जो मनुष्य जीव आत्माको शरीरमें एक देशी मानते हैं इस कारण जीव आत्माका कुछभी सम्बन्ध वाह्यविषयोंसे नहीं रहेगा क्योंकि आत्मा और जड़ के बीच अति देश का अन्तर है। जैसे पटने का रहनेवाला विना आगरे पहुंचे वहां के रहने वालों को नहीं बांध सकता इसी प्रकार बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासना आभ्यन्तरस्थ आत्मा के बन्धन का हेतु किस प्रकार हो सकती है ? और लोकमें भी ऐसाही देखा जाताहै कि जब रङ्ग और वस्त्रका सम्बन्ध विना अन्तरके होताहै तबतो वस्त्र पर रङ्ग चढ़ जाताहै यदि उनके बीच कुछ अन्तरहो रङ्ग कदापि नहीं चढ़सकता, अतएव वासना से बन्धन नहीं होसकता, परन्तु जब लोग आत्मा और वाह्य इन्द्रियों में अन्तर मानते हैं तो इन्द्रियकृत वासना से आत्मा किसी प्रकार बन्धन में नहीं आ सकता। यदि यह कहा जाय कि वाह्य इन्द्रियों का आभ्यन्तर इन्द्रिय मन आदि से सम्बन्ध है और आभ्यन्तर इन्द्रियों का आत्मा से, इस परम्परा सम्बन्ध से आत्मा भी विषय वासना से बद्ध हो सकता है यह कहना अयुक्त है क्योंकि :—

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्नव्यवस्था ॥ २९ ॥

अर्थ—जब आत्मा और इन्द्रिय दोनों को विषय वासना में बन्धा हुआ मानोगे तो मुक्त और बन्धन में रहने वालेका पता भी नहीं लगेगा इसका आशय यह है कि जब आत्मा और इन्द्रिय दोनों ही विषय वासना से समान सम्बन्ध रखते हैं तो इन्द्रियोंका [illegible]

अयुक्त होगा इस कारण वासना ही से भी बन्धन नहीं होता।

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३०

प्र०तो क्या फिर अदृष्ट अर्थात् पूर्व किये धर्म अधर्म से जो एक भोग शक्ति पैदा होती है उस से बन्धन होता है ?

०-न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः ३१

अर्थ-जब तुम्हारा बन्धन और अदृष्ट एक काल में उत्पन्न होते हैं तो उन में कर्ता और कर्म नहीं हो सकता। जब कि तुम्हारी दृष्टि में संसार प्रत्येक क्षण में बदलता है तो एक स्थिर आत्मा के न होने से दूसरे आत्मा के अदृष्ट से दूसरे आत्मा का बन्धनरूप दोष होगा।

प्र०—पुत्रकर्म्मवदिति चेत् ॥ ३२ ॥

अर्थ-जिस प्रकार उसी काल में तो गर्भाधान किया जाता है और उसी समय उस का संस्कार किया जाता है अतएव एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में पूर्वकथित सम्बन्ध हो सकता है।

उ०—नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥ ३३ ॥

अर्थ-तुम्हारे मत में तो एक स्थिर जीव आत्मा ही नहीं जिसका गर्भाधानादि से संस्कार किया जावे। अतएव तुम्हारा पुत्र कर्म वाला दृष्टान्त ठीक नहीं यह दृष्टान्त एक स्थिर आत्मा मानने वालों के मत में तो कुछ घट भी सकता है।

प्र०-बन्धन भी (क्षणिक) एक क्षण भर रहने वाला है इसलिये उसका कारण अर्थात् नियम नहीं या अभावही उसका कारण है अथवा वह विना कारण ही है।

उ० स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥ ३४ ॥

अर्थ-यदि तुम बन्धन को (क्षणिक) एक क्षण रहने वाला मानो तो उस में दीपशिखा अर्थात् दीपज्योति के समान दोनों

का कोई स्थिर कार्य्य उत्पन्न नहीं होगा। इस अगले सूत्र से स्पष्ट करते है कि कार्य्य को क्षणिक मानने में क्या दोष होगा।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥३५॥

अर्थ–लोक में कोई भी पदार्थ (क्षणिक) अर्थात् एक क्षण रहने वाला नहीं क्योंकि यह ज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह कहता हुआ सुनाई देता है कि जिसको मैं ने देखा उसको स्पर्श किया। दृष्टान्त यह है जैसे कि यदि एक घोड़ा मोल लिया जावे तो क्षणिकवादी के मत में परीक्षा करके मोल लेना असम्भव है क्योंकि जिस क्षण में घोड़े को देखा था तब और घोड़ा था जिस क्षण में हाथ लगाया तब और था दुबारा देखा तब और हुआ इस कारण कोई कार्य्य हो ही नहीं सकता। अतएव जिसके लिये दृष्टान्त हो वह ठीक नहीं इसलिये बन्धनादि क्षणिक नहीं वरन स्थिर हैं। और प्रमाण देते है—

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥३६॥

अर्थ–यह कहना कि जगत् एक क्षण रहता है श्रुति अर्थात्वेद और न्याय अर्थात् तर्क से सर्वथा विरुद्ध है, जैसा कि लिखा है:–

"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"

अर्थ–हे सौम्य! इस जगत् से पहिले भी सत् था अर्थात् जगत् का कारण था।

"तम एवेदमग्र आसीत्"

अर्थ—इस सृष्टि से पहिले यह जगत् तमोरूप अर्थात् नामरूपज्ञान जो कार्य्य में हैं इनसे पृथक् सत् रूप था और न्याय से इसलिये विरुद्ध है कि असत् से सत् किसी प्रकार हो नहीं सकता इस कारण यह बन्धनरूप दुःख न तो क्षणिक है न विना कारण ही है। और प्रमाण लीजिये :–

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥३७॥

अर्थ–क्षणिक में जो दीपशिखा का दृष्टांत दिया वह अयुक्त है क्योंकि क्षण ऐसा सूक्ष्म काल है कि जिसकी इयत्ता (अन्दाज़ा) नहीं होसक्ता और न उसकी कुछ इयत्ता (तादात) है और प्रत्यक्ष में दीपशिखा कोई क्षण तक एक बराबर रहती है यह कथन भी सर्वथा अयुक्त है और क्षणिकवादियों के मत में एक दोष यह भी होगा कि कारण और कार्य्यभाव नहीं हासकेगा और जब कार्य्य कारण का नियम न रहा तो किसी रोग की औषधि जो निदान अर्थात् कारण के ज्ञान को जानकर उसके विरुद्ध शक्ति से की जाती है नहीं हो सकेगी और संसार में जो घट का कारण मृत्तिका को माना जाता है सर्वथा न कह सकेंगे क्योंकि जिस क्षण में मृत्तिका घट का कारण है वह क्षण अब नष्ठ होगया और यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि मृत्तिका घट का कारण नहीं क्योंकि विना कारण जाने घट बनाने में कुलाल की प्रवृत्ति नहीं होती और यदि दोनों की अर्थात् मृत्तिका और घटकी उत्पत्ति एक ही क्षण में मानें तो यह दोष होगाः—

युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारणभावः ॥ ३८

अर्थ—जो पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं उनमें कार्य्य कारण भाव नहीं हो सक्ता क्योंकि ऐसा कोई भी दृष्टान्त लोक में नहीं है जिसमें कार्य्य कारण की उत्पत्ति एक साथ ही हो। यदि क्षणिक वादो यह कहे कि मृत्तिका और घट क्रम से हैं, पहिले मृत्तिका कारण फिर घट कार्य्य उत्पन्न होगया तो इसमें भी दोष है

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥ ३९ ॥

अर्थ-इस पक्ष में यह दोष होगा कि पूर्व क्षण में मृत्तिका उत्पन्न हुई और दूसरे क्षण में नष्ठ हुई तब पीछे उस से कार्य्य रूप घट क्योंकर उत्पन्न होसकता है ? इसलिये जब तक उपादान कारण न माना जाय तब तक कार्य्य की उत्पत्ति नहीं

हो सकती। अतएव कार्य्य कारण भाग क्षणिक वादियों के मत से सिद्ध नहीं होसकता।

उ०—तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।४०।

अर्थ--कारण की विद्यमानता से और कार्य्य के साथ उसका सम्बन्ध न मानने से दोनों दशाओं में व्यभिचार दोष होने से कारण कार्य्य का सम्बन्ध नहीं रहता। जब कार्य्य बनाना था तब तो कारण नहीं था और कारण हुआ तब कार्य्य बनाने का विचार नहीं, अतएव क्षणिक वादियों के मत में कार्य्य कारण का सम्बन्ध किसी प्रकार हो नहीं सकता।

प्र०--जिस प्रकार घट का निमित्त कारण कुलाल पहिले से ही माना जाता है यदि इसी भांति उपादान कारण भी माना जावे तो क्या शङ्का है ?

उ०—पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि कारण को नियत न मानकर पूर्व भावमात्र ही माना जावे तो यह नियम न रहेगा कि मृत्तिका ही से घट बनता है और वायु से नहीं बनता क्योंकि क्षणिकवादी किसी विशेष कारण को भाव से तो मानते नहीं किन्तु भाव ही मानेंगे अतएव उपरोक्त दोष बना रहेगा और निमित्त कारण और उपादान का अन्तर भी मालूम नहीं होगा और लोक में उपादान कारण और निमित्त कारण का भेद निश्चित है इस लिये क्षणिकवाद ठीक नहीं।

प्रश्न-जो कुछ संसार में है सब मिथ्या ही है और संसार में होने से बन्धन भी मिथ्या है अतएव उसका कारण खोजने की कोई आवश्यकता नहीं वह स्वयम् नाशरूप है।

उ०—न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥ ४२ ॥

अर्थ-इस जगत् को केवल मिथ्याज्ञान या विज्ञानमात्र नहीं कह सकते क्योंकि विज्ञान आन्तरिक अर्थात् भीतरही हो-

ता है और जगत् बाहर और भीतर दोनों दशाओं में प्रकट है ॥ ४२ ॥

प्रश्न—जब हम बाहर किसी पदार्थ के भाव को मानते ही नहीं केवल भीतर के विचार ही मनोराज्य की सृष्टि की भांति मालूम होते हैं।

उ०—तदभावेतदभावाच्छून्यंतर्हि ॥ ४३ ॥

अर्थ—यदि तुम जगत् को बाह्य न मानों केवल भीतर ही मानोगे तो इस देखते हुए संसार में विज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा और जगत् को शून्य कहना पड़ेगा इसका कारण यह है कि प्रतीति विषय का साधन करने वाली होती है इस लिये यदि बाह्य प्रतीति जगत् का साधन न करे तो विज्ञान प्रतीति भी विज्ञान को नहीं सिद्धकर सकती इस हेतु से विज्ञानवाद में शून्यवाद हो जायगा।

प्रश्न—अब शून्यवादी नास्तिक अपनी दलील देता है।

शून्यं तत्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥ ४४॥

अर्थ—जितने पदार्थ हैं सब शून्य हैं और जो कुछ भाव है वह सब नाशवान् है और जो विनाशी है वह स्वप्न की भांति मिथ्या है इस से सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि और अन्त का तो अभाव सिद्ध ही होगया अब रहा केवल मध्य भाग सो यथार्थ नहीं—तब कौन किस को बांध सकता है? और कौन छोड़ सकता है? इस हेतु से बन्ध मिथ्या ही प्रतीत होता है विद्यमान वस्तुओं का नाश इस लिये है कि नाश होना वस्तु मात्र का धर्म है इस शून्य वादी के पूर्व पक्ष का खण्डन करते हैं ॥ ४४ ॥

उ०—अपवादमात्रबुद्धानाम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो कुछ भाव पदार्थ हैं वह सब नाशवान् हैं यह कथन मूर्खों का अपवाद मात्र है क्योंकि ... का

स्वभाव कहकर नाश में कुछ कारण न बताने से जिन पदार्थों का कुछ अवयव नहीं है उनका नाश नहीं कह सक्ते इस का हेतु यह है कि कारण में लय होजाने को ही नाश कहते हैं और जब निरवयव वस्तुओं का कुछ कारण न माना तो उन का लय किसी में न होने से उन का नाश न हो सकेगा इस के सिवाय एक और भी दोष रहेगा कि हर एक कार्य्य का अभाव लोक में नहीं कह सकते जैसे घट टट गया इस कहनेसे यह ज्ञात होगा कि घट की दूसरी दशाहोगई। परन्तु घट रूपी कार्य्य तो बना ही रहा आकृति को इस हेतु से माना है कि वह एक घट के टूट जाने से दूसरे घटों में तो रहती है।

अब तीनों लक्षणों का खंडन करते हैं। अर्थात् विज्ञान-वादी क्षणिकवादी और शून्यवादी।

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकवादी और विज्ञानवादी का मत प्रत्यभिज्ञादि दोष बाह्य प्रतीति से खण्डित होजाता है इसी प्रकार शून्यवादी का मत भी खंडित होजाता है, क्योंकि उस दशा में पुरुषार्थ का बिल्कुल अभाव होजाता है यदि यह कहो कि शून्यवाद करने पर भी पुरुषार्थ तो स्वीकार करते हैं तो वह भीमानना अयुक्त होगा।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

अर्थ—शून्यवादी के मत में पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि जब दुःख है ही नहीं केवल शून्य ही है तो उस की निवृत्ति का उपाय क्यों किया जावे और मुक्ति भी शून्य ही होगी उस के लिये साधन भी शून्य ही होगें तो ऐसे शून्य पदार्थ के लिये पुरुषार्थ भी शून्य ही होगा। अतएव शून्यवादी का मत किसी प्रकार भी शान्तिदायक नहीं और न उस से मुक्ति होसकती है ॥ ४७ ॥

न गतिविशेषात् ॥ ४८ ॥

अर्थ—गति के ३ अर्थ हैं-ज्ञान, गमन, प्राप्ति, यह तीनों बन्धन का हेतु नहीं होते पहिले जब कहा जावे कि ज्ञानविशेष से बंधन होता है। ज्ञान तीन प्रकार का है प्रातिभासिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक। यदि कहाजावे कि प्रातिभासिक सत्ता के ज्ञान से बंधन होता है तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय और संस्कार दोष से उत्पन्न होता है परन्तु आत्मा में न इन्द्रिय है न संस्कार है, इस लिये जिस का कारण ह ही नहीं उसका कार्य्य कैसे हो सकता है ? और रहा व्यावहारिक ज्ञान सा तो बद्ध अवस्था को छोड़ रहता ही नहीं वह बन्ध का कारण किस प्रकार होसकता है ? और पारमार्थिक ज्ञान तो मुक्ति का हेतु है वह बन्ध का कारण क्योंकर होसक्ता है ? अतएव ज्ञानविशेष से वन्ध नहीं होता। दूसरा गमन शरीरादि में होता है वह जीव का स्वाभाविक धर्म्म होने से बन्ध का हेतु नहीं हो सकता।

तीसरा प्राप्ति, सो प्राप्त होने वाले दो पदार्थ हैं एक ब्रह्म दूसरी प्रकृति सो यह दोनों व्यापक होने से जीव को सर्वदा प्राप्त सदैव रहने वाली वस्तु से सदैव सम्बन्ध उस से भी बद्ध नहीं होसकता अतएव गतिविशेष से बन्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

निष्क्रियस्यतदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

अर्थ—क्रिया से शून्य जड़ प्रकृति में भी गति असम्भव है और व्यापक ब्रह्म में भी गति असम्भव है, और यदि जीव की गति पर विचार कियाजावे तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि जीव विभु है अथवा मध्यम परिमाण वाला है अथवा अणु है ? यदि विभु मानलें तो गति हो नहीं सकती, यदि मध्यम परिमाणवाला मानलें तो यह दोष होगा ॥ ४९ ॥

प्र०—क्या आत्मा अंगुष्ठमात्र नहीं है ? यदि अंगुष्ठ मात्र है तो उस में गति इत्यादि सम्भव है यदि विभु है तो नाना हो ही नहीं सकते।

उ०—मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥ ५० ॥

अर्थ—आत्मा के मूर्त्ति न होने से घटादिकों की भांति सावयव इत्यादि दोष आ जांयगे और सावयव होने से संयोग वियोग अर्थात् उत्पत्ति और नाश भी मानना पड़ेगा जो कि आत्मा नित्य है इस लिये मूर्त्तिवाला नहीं हो सकता और जब मूर्त्तिवाला नहीं तो उस में इस प्रकार की गति भी नहीं मानी जा सकती-अतएव आत्मा को मूर्त्ति वाला मानना सिद्धान्त का खण्डन करना है ॥ ५० ॥

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—शरीर के सब अवयवों में जो गति है अर्थात् दूसरे शरीरों में जो गमन है वह सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि के कारण है अर्थात् जबतक सूक्ष्म शरीर न हो तब तक एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में नहीं जा सकता जैसे आकाश घट की उपाधि से चलता है क्योंकि घट में जो आकाश है जहां घट जायगा साथ ही जायगा ॥

प्र०—सूक्ष्म शरीर किसे कहते हैं ?

उ०—पंच प्राण, पंच उपप्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय, मन अहंकार इन सब के समूह का नाम सूक्ष्म शरीर है ॥

प्र०—क्या यह जीव से बिलकुल पृथक् हैं ।

उ०—हां बिलकुल पृथक् हैं ।

प्र०—तो पहिले पहिल जीव किस प्रकार इस शरीर को धारण करता है ॥

उ०—पहिले सांकल्पिक सृष्टि में आता है फिर उस को जब सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होजाता है तब दूसरे शरीरोंमें जाता है यदि सम्बन्ध न हो तो नहीं जाता ॥

न कर्म्मणाप्यतर्द्धमत्वात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—कर्म से भी बन्धन नहीं होता क्योंकि वह भी शरीर सहित आत्मा में होता है और शरीर सुख दुःख भोगने से होता

है इसलिये कर्म से पहिले शरीर का होना आवश्यक है और शरीर होने से बन्धन भी है उसके उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं।

अतिप्रसक्तिरन्यधर्म्मत्वे ॥ ५३

अर्थ—यदि और के धर्म से और का बन्धन मानलें तो नियम टूट जायगे क्योंकि उस अवस्था में बद्ध पुरुष के पाप से मुक्त बन्धन में आजायेंगे जो असंगत है ॥ ५३ ॥

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥

अर्थ-यदि उपाधि के विना पुरुष का बन्धन माना जावे तो जिन सूत्रों में जीव को साक्षीरूप और निर्गुण बतलाया है उन में दोष आजायगा इसलिये जीव स्वभाव से बद्ध है न मुक्त है वरन यह दोनों औपाधिक धर्म हैं प्रकृति संसर्ग से बद्ध होजाता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त हो जाता है यथार्थ में जीव सुख दुःख से पृथक् और तीनों तापों से किनारे साक्षीरूप है, इस सूत्र में इति शब्द कहने से बन्धन के कारण की परीक्षा समाप्त करदी गई ॥

प्र०—जब दुःख स्वाभाविक भी नहीं और नैमित्तिक भी नहीं तो प्रतीत कैसे होता है।

उ०-जीव की अल्पज्ञता और प्रकृति संसर्ग से बन्ध की प्रतीति होती है चूंकि संसर्ग नित्य है इसलिये नैमित्तिक नहीं कहला सकता और बन्ध संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अविवेक से प्रतीत होता है इस कारण स्वाभाविक नहीं कहला सकता अतएव अविवेक ही इसका कारण है।

प्र०—जब तुम प्रकृति के योग से बन्धन मानते हो और प्रकृति भी काल और दशा की नाईं सर्वव्यापक है तो उस के योग से बन्धन किस प्रकार हो सकता है।

उ०—तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—प्रकृति का योग भी अविवेक से होता है इस वास्ते

यह काल और दशा के समान नहीं।

प्र०—अविवेक किसे कहते हैं ?

उ०—यह न जानना कि यह वस्तु हमारे वास्ते लाभदायक है अथवा हानिकारक उसको अविवेक कहते हैं।

प्र०—इस अविवेक का कारण क्या है ?

उ०—जीव की अल्पज्ञता ही अविवेक का कारण है।

प्र०—क्या वह जीव की अल्पज्ञता जीव का स्वाभाविक गुण है अथवा उस का भी कोई कारण है ?

उ०—उसका कोई कारण नहीं।

प्र०—जब अल्पज्ञता स्वाभाविक गुण है और स्वाभाविक का नाश हो नहीं सकता बस कारण रहा तो कार्य बन्धन सदैव रहेगा।

उ०-जिस प्रकार वायु स्वभाव से उष्ण शीत से अलग है ऐसे ही जीव बन्धन मुक्ति से पृथक् है यह दोनों गुण नैमित्तिक हैं इसलिये प्रवाह से अनादि हैं और स्वरूप से आदि होते हैं।

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥५६॥

अर्थ—जिस प्रकार मन्द अन्धकार से जो सीप में चांदी का ज्ञान या रज्जू में सर्प का ज्ञान है उस के नाश करने का नियत उपाय है अर्थात् प्रकाश का होना-किन्तु प्रकाश के बिना किसी अन्य उपाय से यह अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता इसी प्रकार अविवेक से उत्पन्न होने वाला जो बन्धन है उसके नष्ट करने के उपाय विवेक अर्थात् पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्यतद्धाने हानम् ॥५७॥

अर्थ—जीव में प्रधान अर्थात् प्रकृति के अविवेक अर्थात् पदार्थज्ञान के न होने से और कारण आदि से पदार्थों का अज्ञान होता है आशय यह कि [illegible] जीव की

अल्पज्ञता है क्योंकि जीव अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता से प्रकृतिका विवेक नहीं रखता जिससे प्राकृतिक पदार्थों में मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्या ज्ञान से राग द्वेष और राग द्वेष से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उससे बंधन अर्थात् तीन प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, और जिस समय प्रकृति का मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब प्रकृति के पदार्थोंका अविवेक दूर होकर दुःख रूप बन्धन से छूटजाता है।

वाङ्मात्रं न तु तत्वं चित्तस्थितेः ॥५८॥

अर्थ—दुःखादि को चित्त में रहने वाला होने से उनका पुरुष में कथन मात्र ही है जैसे लाल डांक के लगाने से अंगूठी का हीरा लाल मालूम होता है ऐसे जीव मन के दुःखी होने से दुःखी मालूम होता है और मन के सुखी होने से सुखी मालूम होता है वास्तव में सुख दुःख से पृथक् है।

प्र०—यदि इस भांति दुःख कथन मात्र ही है तो युक्ति से भी दूर होजायगा उसके लिये विवेक की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

युक्तितोऽपि न वाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥५९॥

अर्थ—इस केवल कथन मात्र दुःख का भी युक्ति से ज्ञान नाश नहीं हो सक्ता विना अपरोक्ष ज्ञान के जैसे किसी मनुष्य को पूर्वदिशा में उत्तर का भ्रम हो जावे तो जब तक उसे पूर्व और उत्तर दिशा का भली भांति ज्ञान न होजावे तब तक यह भ्रम जाही नहीं सकता इस कारण विवेक की आवश्यकता है और सूत्रमें भी दिखलाया गया है कि जबतक दिशाका प्रत्यक्ष न हो जावै तब तक भ्रम निवृत्ति नहीं हो सकती इस लिये जब तक प्रकृति और पुरुष के धर्म का ठीक निश्चय करके प्रकृति से निवृत्ति और पुरुषकी प्राप्ति न हो तबतक दुःखदूर भी नहोगा।

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वन्हेः ॥ ६० ॥

अर्थ–प्रकृति पुरुष अर्थात् जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति का जो प्रत्यक्ष नहीं है अनुमान से ज्ञात होता है।

प्र०–क्या यह प्रकृति प्रत्यक्ष नहीं ?

उ०–नहीं प्रत्युत जो प्रत्यक्ष है वह विकृति है अर्थात् प्रकृति का परिणाम है।

प्र०–सूत्र में तो पुरुष शब्द है तुम इस से जीवात्मा और परमात्मा किस प्रकार लेते हो ?

उ०–शरीर में रहने से जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा पुरुष शब्द से लिये गये और न्यायमें आत्मा और सांख्य में पुरुष शब्द एक ही अर्थ के बतलाने वाले हैं।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यःस्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिगणः ॥ ६१ ॥

अर्थ—सत्व गुण प्रकाश करने वाला, रजो गुण न प्रकाश और न आवरण करनेवाला, तमोगुण आवरण करने वाला–जब यह तीनों गुण समान रहते हैं उस दशा का नाम प्रकृति क्यों कि वर्तमान दशा में सत्वगुण तमोगुण का परस्पर विरोध है इस समय जिस शरीर में सत्व गुण रहता है वहां तमोगुण का वास नहीं और इसी प्रकार जहां तमोगुण का निवास है वहां सत्वगुण नहीं। परन्तु कारण अर्थात् परमाणु की दशा में एक दूसरे के विरुद्ध नहीं करसकते उस समय पास ही पास रहसके हैं अब उस प्रकृति से महत्तत्व अर्थात् मन उत्पन्न होता है और मन से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्च सूक्ष्म तन्मात्रा या रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द उत्पन्न होते हैं उन से पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं और पञ्चतन्मात्रों से पांच भूत अर्थात् पृथवी, अप्, तेज,

वायु और आकाश होते हैं और जग इनसे पुरुष अर्थात् जीव और ब्रह्म मिलजाता है तो २५ गुण कहलाते हैं।

प्र०—अनेक पुरुषों ने महत्तत्व का अर्थ बुद्धि लिया है तुम 'मन' किस प्रकार लेते हो ?

उ०—बुद्धि जीवात्मा का गुण है जीव के सत्य होने से वह नित्य है वह प्रकृति का कार्य्य नहीं और मन सूक्ष्म अन्य का विकार है अतएव मन ही लेना चाहिये।

प्र०—मन की इन्द्रियों में गणना की जाती है अतएव भिन्न करने से बुद्धि का ही प्रयोजन प्रतीत होता है।

उ०—यदि १० इन्द्रियों में ११ वां मन भी लिया जाय तो तुम्हारी संख्या ही अशुद्ध हो जायगी इस हेतुसे महत्तत्वका अर्थ मन ही है।

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रा ॥ ६२ ॥

अर्थ—इन पांच प्रकाशवान् तत्वों से उन सूक्ष्म तन्तात्रों का अनुमान होता है, जिस प्रकार कार्य्य को देखकर कारण का अनुमान होता है जैसे लिखा है।

कारणगुणपूर्वक कार्य्य गुणो दृष्टः।

अर्थ—कार्य के गुणों के अनुसार कारण और कारण के अनुसार कार्य के गुणों का अनुमान होता है।

इसी प्रकार यहां कार्य तत्वों को देखकर कारण तन्मात्रा का ज्ञान हो जाता है।

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य ॥६३॥

अर्थ—बाहर की और आभ्यन्तरीय इन्द्रियों से पंच तन्मात्रा रूप कार्य का ज्ञान होकर उसके कारण अहङ्कार का भी ज्ञान होता है क्योंकि स्पर्शादि विषयों का ज्ञान समाधि और सुषुप्ति अवस्था में जब कि अहङ्कार रूप वृत्ति का अभाव होता है नहीं होता इससे अनुमान होता है कि यह इस वृत्ति से उत्पन्न होते हैं अर्थात् अहङ्कार के कार्य हैं और अहङ्कार

इनका कारण हैं क्योंकि यह नियम है कि जो जिसके बिना पैदा न हो सके वह उसका कारण होता है और भूत बिना अहंकार के सुषुप्ति अवस्था में दृष्टि गत नहीं होते अतएव यही उनका कारण अनुमान से प्रतीत होता है।

तेनान्तः करणस्य ॥६४॥

अर्थ—और अहङ्कार रूपी कार्य से उसके कारण अन्तः करण का अनुमान होता है क्योंकि प्रथम मन में वस्तु की अस्तित्व का निश्चय करके उसमें अहङ्कार किया जाताहै अर्थात् उसे अपना मानते हैं जिस समय तक वस्तु की स्तित्व का निश्चय न हो तब तक उसमें अभिमान नहीं होता है अर्थात् मैं हूं और यह मेरा है यह ज्ञान जब तक अपने और चीज़ की अस्तित्वका ज्ञान न हो किस तरह हो सकता है ?

ततः प्रकृतेः । ६५ ।

अर्थ—और उस मन से प्रकृति जो मनका कारण है उस का अनुमान होता है क्योंकि मन मध्यम परिमाण वाला होने से कार्य्य है और प्रत्येक कार्य्य का कारण० अवश्य होता है अब मन का कारण प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता क्योंकि पुरुष तो परिणाम रहित है और मन का शरीर की तरह मध्यम परिणाम वाला होना श्रुतिस्मृति और युक्ति से सिद्ध है क्योंकि मन सुख दुःख और मोह धर्मवाला है इस वास्ते उस का कारण भी मोह धर्मवाला होना चाहिये दुःख परतन्त्रता का नाम है और पुरुष की परतन्त्रता हो नहीं सकती परतन्त्रता केवल जड़ प्रकृति का धर्म है और उस का कार्य मन है।

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६

अर्थ—प्रकृति के अवयवों की संहति सर्वदा दूसरे के वास्ते होती है अपने लिये नहीं, इससे पुरुष का अनुमान होता है क्योंकि मन आदिक जो प्रकृति के कार्य हैं उनसे पुरुष को लाभ होता है मन आदिक अपने लिये कुछ भी नहीं करसकते

और जितने शरीर से लेकर अन्न वस्त्र पात्रादि प्रकृति के विकार हैं उनसे दूसरों का ही उपकार होता है और पुरुष की क्रिया का भोग पदार्थ नहीं है क्योंकि उपनिषद में लिखा है "नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति नतु कामाय सर्वं प्रियं भवति"—अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं के उपयोगी होने से सब वस्तु प्यारी नहीं किन्तु आत्मा के उपयोगी होने से सब वस्तु प्यारी प्रतीत होती हैं।

प्रश्न—क्या प्रकृति का कोई कारण नहीं है ब्रह्म को कारण सुना जाता है।

उत्तर—ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है प्रकृति का उपादान कारण नहीं।

प्रश्न—प्रकृति को क्यों अकारण नहीं मानते हो।

मूले मूला भवाद मूलं मूलम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—तत्वों का मूल उपादान कारण प्रकृति है और मूल अर्थात् जड़ की जड़ नहीं होती इस वास्ते मूल बिना मूल के ही होता है।

प्रश्न—प्रकृति को मूल क्यों मानते हो।

उत्तर—यदि मूल का मूल मानोगे तो उसके मूल की भी आवश्यकता होगी इस प्रकार अनवस्था दोष आजायगा।

प्रश्न—जैसे घट का कारण मृत्तिका है और मृत्तिका का कारण परमाणु है।

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥६८॥

कारणों की परम्परा के विचार से परमाणु ही घट का कारण है मृत्तिका तो नाम मात्र है।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥ ६९ ॥

घट और मृत्तिका के साथ प्रकृति का समान सम्बन्ध है अर्थात् परम्परा से प्रकृति ही घट और मृत्तिका का कारण है और निरवयव होने से नित्य है उसका कोई कारण नहीं।

अधिकारी त्रैविध्यान्न नियमः ॥७०॥

यद्यपि प्रकृति सबका उपादान कारण है परन्तु प्रत्येक कार्य में जो तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं अर्थात् १ उपादान २ निमित्त और ३ साधारण इनकी भी व्यवस्था न रहेगी क्योंकि जब कुम्हार मिट्टी दण्डादि का कारण प्रकृति ही ठहरी तो इन तीन कारणों की अनावश्यकता होनेसे बहुत गोलमाल हो जायगा इसमें हेतु यह है कि फिर कोई भी किसी का निमित्त व असाधारण कारण न रहेगा अतएव जहां २ कारणत्व कहा जाय वहां २ प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये, क्योंकि प्रकृति तो सबका कारण है ही उसके कहने की कोई भी आवश्यकता नहीं है जैसे कुम्हार के पिताको घटका कारण कहना अनावश्यक है क्योंकि वह तो अन्यथा सिद्ध है यदि वही न होता तो कुलाल कहां से आता ? परन्तु घट के बनने में कुलाल के पिता की कोई भी आवश्यकता नहीं हैं ऐसा ही नवीन नैयायिक भी मानते हैं कि कारणत्व प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये ॥ ७० ॥

महदाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मन ॥ ७१ ॥

अर्थ–प्रकृति का पहला कार्य्य महत् है और वह मन कहलाता है–मन से अहङ्कारादि उत्पन्न होते हैं मन की उत्पत्ति ६१ सूत्र में कह चुके हैं ॥ ७१ ॥

चमोऽहङ्कारः ॥ ७२ ॥

अर्थ–और प्रकृति का दूसरा कार्य अहङ्कार है, इन तीनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति को कारणत्व कहा जावे तो केवल इन्हीं दो कार्यों का कहना अन्य कार्यों का कारण महदादि को कहना चाहिये इसी बात को अगले सूत्रों में साबित करेंगे।

तत्कार्यत्व मुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥

अर्थ–महद और अहङ्कार को त्यागकर शेष सब वस्तुयें

प्रकृतिका कार्य नहीं किन्तु वह महद और अहङ्कारका कार्य्य है।

प्रश्न–पूर्व तो प्रकृति को जगत् कारण कहा और अब केवल महद और अहंकार को कहते हो।

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥७४॥

अर्थ:–जिस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से घटादि के कारण अणु माने थे उसी भांति परम्परा सम्बन्ध से महदादिकों का कारण भी प्रकृति ही है अतएव कुछ दोष न रहेगा ॥४७॥

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेन्यतरयोगः ॥७५॥

अर्थ—पहिले होने में एक यह भी युक्ति है कि कार्य नाश होकर कारण में मिल जाता है और अन्त में सब कार्य पदार्थ प्रकृति में लय हो जाते हैं।

प्रश्न—यदि पुरुष की हालत का परिवर्तन माना जाय और जगत् का उपादान कारण माने तो क्या आक्षेप होगा।

उत्तर—यदि इस प्रत्यक्ष जगत को पुरुष का कार्य माना जाय, और पुरुष ही उसका उपादान कारण मान लें, तो जगत् में पुरुष के गुण होने चाहिये। क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् जड़ है इसलिये पुरुष का कार्य नहीं क्योंकि चेतन के उपादान कारण होने से कार्य भी चेतन होना उचित है।

प्रश्न—यह प्रकृति परिच्छिन्न यानी परिमित है या अपरिमित है।

परिछिन्न न सर्वोपादानम् ॥७६॥

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् का उपादान परिमित नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु परिमित है, वह कार्य है अथवा अणु कार्य सब का कारण नहीं कहा जा सक्ता और अणु विना अन्य अणुओं के मिले हुए किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकते और वह नहीं ... है

प्रश्न—सीमा कितने प्रकार की है।

उत्तर—देश और काल की सीमा होती है। जो वस्तु उत्पन्न होती वह देश, काल की सीमा में आजाती है और अणु आदि देश की सीमा में रहते हैं। सदैव रहने वाले पदार्थ काल की सीमा से बाहर हैं। और सर्व व्यापक पदार्थ देश की सीमा से बाहर हैं तो सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण देश और काल की सीमा से बाहर होना चाहिये।

प्रश्न—परिमित पदार्थ क्यों जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता।

तदुत्पत्ति श्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

अर्थ—उत्पत्ति होगी और उसका नाश भी होगा।

प्रश्न—जब कुछ नहीं था तो कैसे उत्पत्ति हुई।

नावस्तुनोवस्तु सिद्धिः ॥७८॥

अर्थ—अवस्तुसे वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जगत् स्थित रहने वाला है उसका उपादान कारण कुछ नहीं होना किस प्रकार से हो सकता है क्योंकि संसार में मनुष्यों के सींग नहीं होते हैं। यदि सींग होते तो उससे कोई वस्तु बन भी जाती जब मनुष्य के सींग ही नहीं तो कोई वस्तु भी नहीं बन सकती इस लिये जब कोई पदार्थ ही नहीं था तो उसका होने को मानना सरासर भूल है।

प्रश्न—यह संसार भी कुछ नहीं है केवल भ्रम ही प्रतीत होता है जैसे दूर से रस्सी में सर्प और बालू में पानी हुआ करता है।

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नाऽवस्तुत्वम्॥७९॥

उत्तर—यदि कहो जगत् भी अवस्तु है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि न तो स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगत् का किसी ... ... में बाध होता है जैसे स्वप्न के पदार्थों

का जाग्रत अवस्था में बाध होजाता है और न जगत् किसी इन्द्रिय के दोष से प्रतीत होता है जैसे पीलिया रोग की अवस्था में सब वस्तुओं को पीला प्रतीत करता है परन्तु यह पीला पन सत्य नहीं जगत इस प्रकार के किसी दोष युक्त कारण से उत्पन्न नहीं हुआ इसकारण जगत्को अवस्तु नही कहसकते।

प्रश्न—जब श्रुतियों में जगत् का मिथ्या होना कहा गया है तब जगत् वस्तु नहीं हो सकता।

उत्तर—क्या तुम श्रुति कोजगत् के अन्दर मानते हो या बाहर ? यदि अन्त मानो तो जगत् के मिथ्या होने से श्रुति का स्वयं अन्त होजायगा और वह मिथ्या श्रुतियां ही न रहैंगी यदि जगत् से बाहर माया तो अद्वैत वादी के सिद्धान्त की हानि होगी।

प्रश्न—जो यह श्रुति दिखला रहीं है कि ब्रह्म नहीं इनका क्या अभिप्राय है।

उत्तर—वे श्रुतियां जगत् से ब्रह्मको पृथक् प्रतिपादन कर रही हैं उससे आगे के सूत्र में जा कुछथा ही नहीं उसका होना इसका खण्डन करते हैं।

भावेतद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धि ॥ ८० ॥

अर्थ—कारण के होने से उसके संयोग से कार्य बन सकता है और कारण के अभाव में किस के योग से द्रव्यरूप कार्य बनेगा जैसे मट्टी के होने से तो उसका घट बन जायगा जब मृत्तिका ही न हो तो किसका घट बनेगा ?

प्रश्न--तुम प्रधान अर्थात् प्रकृति को क्यों कारण मानते हो ? कर्म को मानना चाहिये।

उत्तर—न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥८१॥

अर्थ—कर्म से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कर्म द्रव्य तो है ही नहीं द्रव्य के बिना गुणादि में उपादान कारण होने की योग्यता नहीं कारण यह है कि द्रव्य का उपादान कारण द्रव्य ही होता है, यदि कहो हम ऐसी कल्पना करते हैं तो कल्पना दृष्ट के अनुसार प्रामाणिक और विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है और वैशेषिक में कहे हुवे गुण और कर्म कहीं उपादान कारण होते नहीं, देखो यहां कर्म शब्द से अविद्या और गुणों को भी लेना चाहिये, वह भी उपादान के योग्य नहीं।

यहांतक तो यह बतलाया गया कि प्रकृति में परिणाम है परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा में परिणाम नहीं। और प्रकृति के लाभ के लिये नहीं किन्तु जीव के लाभ के लिये है, क्योंकि प्रकृतिमें भोगने की शक्ति नहीं अगले पांच सूत्रों में यह बतलाते हैं। कि मुक्ति का कारण कर्म नहीं किन्तु विवेक है।

प्रश्न—मुक्ति का कारण कर्म है या विवेक—

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनाऽऽवृत्तियोगादऽपुरुषार्थत्वम् ॥ ८२ ॥

यह पूर्व सूत्र में कथन कर चुके हैं कि प्रकट किये कर्मों की गति सेमोक्ष प्राप्त नहीं होती अब कहते हैं कि—वेदानुकूल कर्मों से भी मोक्ष नहीं हो सकती क्योंकि कर्मों का बन्धन होने से उनका फलभी बन्धन युक्त ही होगा यह पुरुषार्थ भी नहीं कहला सकता है दूसरा कारण और भी है कि बुरे कर्म बन्धन का कारण नहीं वरन अविवेक हैं तो वेदोक्त कर्म होने पर भी मुक्ति का कारण नहीं होसकते क्योंकि कर्म अविवेक को जोकि बन्धन का कारण है इसलिये नष्ट नहीं होसकते और जो रोगके कारण को नष्ट न करसके वह रोग को भी नष्ट

नहीं कर सकता इस लिये केवल वेदोक्त कर्मों से मोक्ष नहीं हो सकती ॥ ८२ ॥

प्रश्न—श्रुति कथित कर्म बतलाते हैं कि इस प्रकार के कर्म ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर ब्रह्मलोक की सीमा तक ध्यान पुनः लौट आता है ।

तत्र प्राप्तविवेकस्याऽनावृत्ति श्रुतिः ॥ ८३ ॥

अर्थ—इस सृष्टि में भी उसी मनुष्य को ब्रह्मलोक जाने का और ध्यान से ब्रह्मलोक की सीमा तक से पुनः लौट कर आने का अधिकार केवल विवेकी पुरुष को है अन्यथा अन्य श्रुतियों से जिन्ह ने कर्म से मोक्ष नहीं मानी है उन श्रुतियों से विरोध होकर दोनों का प्रमाण नहीं रहैगा इसलिये विवेक सेही मोक्ष प्राप्त होतीहै इससे और भी वादानुवाद करते हैं ।

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्नजाड्या विमोकः ।८४।

अर्थ—वेदोक्त कर्मों से जिनमें बहुत से कर्मों के करने में कष्ट होता है बहुत से यज्ञ आदि के करने में सांसारिक पदार्थों को इकट्ठा करना पड़ता है जिससे लोभादि की उत्पत्ति होती है इस प्रकार दुःखों से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती जिस प्रकार जलमें स्नान करने से शरदी का नाश नहीं होता किन्तु बढ़ती है इसी प्रकार विना विवेक के कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती ।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥८५॥

अर्थ—चाहे कर्म निष्काम हो चाहे सकाम हो परन्तु ज्ञान के बिना मुक्ति का साधन नहीं हो सकता क्योंकि दोनों प्रकार के कर्मों में साध्यत्व अर्थात् शरीर से उत्पति वाला होना समान है- और श्रुति में भी लिखा है " न कर्मणा न प्रजया" इत्यादि अर्थात् न तो कर्मों से मुक्ति होती, न प्रजा से, न धन से, ज्ञान के विना किसी साधन से मुक्ति नहीं होती ।

प्रश्न—ज्ञान दुःख का विरोधी नहीं इसलिये ज्ञान से दुःख का नाश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—दुःख जन्म मरण से होता है, जन्म मरण कर्म से होते हैं, कर्म प्रवृति से होता है, प्रवृति राग द्वेष से होतीहै, राग द्वेष मिथ्या ज्ञान से होते हैं, ज्ञान मिथ्याज्ञान का विरोधी है जब मिथ्या ज्ञान का नाश ज्ञान से हो जायगा तब उसकी सन्तान दुःखादि उत्पन्न ही नहीं होंगे।

प्रश्न-जब ज्ञान को साधन मानोगे तो ज्ञानसाध्य होने से भी मुक्ति दुःख रूप हो जायगी क्योंकि ज्ञान भी तो देहस्थ आत्मा ही को होगा और ज्ञान साध्य होने से मुक्ति ऐसी ही अनित्य होगी जैसा कर्म का फल है।

उत्तर—निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समान्तत्वम् ॥८६ ॥

अर्थ—कर्म का फल तो भावरूप सुख है इसलिये वह अनित्य है परन्तु ज्ञान का फल तो अविद्या का विनाशरूप है जब कार्याभाव रूप नहीं तो उसका नाश न होगा। दूसरे कर्म देहात्मविशिष्ट से होता है और उसका फल भी देहात्मा मिल कर भोगते हैं परन्तु देह विनाशी है इसलिये कर्म का फल भी विनाशी ज्ञानात्मा का धर्म आत्मा में नित्य हो सकता है।

प्रश्न-क्या आत्मा निज मुक्त है!

उत्तर—अविद्यादि दोषों से जो दुःख उत्पन्न होता है उसके दूर होने से जीवात्मा मुक्ति सुख को लेता है यहां आचार्य ऋषि का यह आशय है कि स्वाभाव से तो जीवात्मा बद्ध नहीं केवल अविवेक से बद्ध होता है और अविवेक के नाश से मुक्त होता है, तो मुक्ति ध्वंस अर्थात् नाश रूप है भावरूप नहीं।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥८७॥

अर्थ–ज्ञाता और ज्ञेय के पास २ होने से जो ज्ञान होता है उसे प्रमा कहते हैं इस प्रमा के साधन तीन प्रकार के प्रमाण हैं– एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमान, तीसरा शब्द जो पदार्थ भौतिक और नज़दीक हैं उन का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और जो पदार्थ अभौतिक तथा दूर हैं उनका शब्द और अनुमान से होता है यहां दूर का आशय परोक्ष है। जिन पदार्थों का तीन काल में प्रत्यक्ष न हो उनका शब्द प्रमाण से बोध होता है यहां शब्द का आशय योगी और ईश्वर की आज्ञा है जहां भौतिक पदार्थों का परोक्ष होने में शब्द प्रमाण लिया गया है वहां सत्यवादी आप्त पुरुष का वाक्य समझना चाहिये।

प्रश्न—एक शब्द प्रमाण के दो अर्थ क्यों लिये जावें ?

उत्तर—शब्द कहते हैं आप्त के वाक्य को और आप्त कहते हैं जिसने धर्म से धर्मी का निश्चय किया हो, सो अभौतिक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान तो बिना परमात्मा और योगी के दूसरे को हो नहीं सकता और भौतिक पदार्थों के ज्ञान के साधन इन्द्रियों के होने से सत्य पुरुष का वाक्य भी प्रमाण मानना चाहिये।

प्रश्न–क्या यह तीन ही प्रमाण हैं उपमानादि नहीं।

उ०—तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ॥८८॥

अर्थ—इन तीन प्रमाणों के सिद्धि होने से सब पदार्थों की सिद्धि हो जाती है इसलिये और प्रमाण मानने की आवश्यका नहीं क्योंकि महात्मा मनु ने भी लिखा है।

प्रत्यक्षञ्चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥

अर्थ–प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र के अनुकूल जानकर कार्य करना चाहिये क्योंकि धर्म की शुद्धि की इच्छा वालों को इच्छा इनसे पूरी हो सकती है और उपमानादि प्रमाण इन्हीं के अन्दर आजाते हैं।

यत्सम्बद्धम् सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानम् तत् प्रत्यक्षम् ॥ ८६ ॥

सामने जिस उपस्थित पदार्थके साथ ज्ञानेन्द्रियका सम्बन्ध हो और मनको भी उस इन्द्रिय के द्वारा उसका यथार्थ बोध होजाय तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान का कारण ज्ञानेन्द्रिय और मन की वृत्ति है इसलिये मन और इन्द्रियें प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं और इनका विषय केवल प्रकृत पदार्थ ही हैं प्रत्यक्षसे अप्राकृत पदार्थोंका ज्ञान नहीं होसकता।

प्रश्न—योगियों को तीनों काल के पदार्थों का साक्षात् ज्ञान हो सकता है और योगी समाधि अवस्था में आत्मा और अन्दरके पदार्थों का प्रत्यक्ष करताहै इस वास्ते तुम्हारा प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं ॥ ८६ ॥

उत्तर—योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः ॥ ९० ॥

अर्थ—यह लक्षण बाह्य प्रत्यक्ष का है और योगियों को अबाह्य प्रत्यक्ष भी होता है इसलिये योगियों का प्रत्यक्ष बाह्य रूप न होने से दोष नहीं इसके लिये और युक्ति देते हैं ॥९०॥

लीनवस्तू लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१ ॥

योगी लोग ऐसी वस्तु का जो दूर हो अथवा दूसरे चित्त में हो उसके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं इस वास्ते योगियों के ऐसे प्रत्यक्ष में दोष नहीं आता।

प्रश्न—योगियों का ऐसा प्रत्यक्ष क्यों माना जावे ? क्योंकि यह साध्य अर्थात् प्रमाण की आवश्यकता रखता है इस लिये इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ का ही प्रत्यक्ष मानना चाहिये और अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रत्यक्ष न कहना चाहिये।

उत्तर—मन के इन्द्रिय होने से मानसिक प्रत्यक्ष भी मा-

नना चाहिये इस लिये मानसिक प्रत्यक्ष जो योगियों को होता है सिद्ध है साध्य नहीं।

प्रश्न—प्रमाण वह होता है जो सब के लिये एक सम हो जो प्रत्यक्ष योगियों को हो अन्य पुरुषों को न हो उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते।

उत्तर—इन्द्रियों के विकारी होने से इन्द्रिय जन्य ज्ञान किसी को भी नहीं होता जैसे अन्धे को रूप का ज्ञान बहिरे को शब्द ज्ञान इत्यादि।

प्रश्न—क्या सब के मन में दोष है जो मानसिक प्रत्यक्ष नहीं होता।

उत्तर—जिसके मन में मल, विक्षेप, आवरण तीन दोष हों उसे मानसिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जैसे दर्पण से अपनी आंख देख सकते हैं परन्तु दर्पण के मैल तथा स्थिर न होने अथवा कोई आवरण होने से नहीं देख सकते। जैसे गंगा में यह शक्ति है कि वह बड़े २ मकानों को बहा ले जाय परन्तु यदि उसी गंगा को छोटी नालियों में बिभक्त कर दिया जाय तो एक ईंट को भी नहीं बहा सकती इसी प्रकार मन सूक्ष्म पदार्थों को जान सकता है परन्तु विक्षिप्त वृत्ति होने से उसकी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है?

प्रश्न—इन्द्रियों के प्रत्यक्ष मानने और मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने में क्या दोष होगा?

उत्तर—ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥

मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने से ईश्वर की सिद्धि न होगी क्योंकि रूप न होने से वह चक्षु का विषय नहीं, सुगन्ध न होने से वह नासिका के विषय नहीं, रस न होने से वह रसना का विषय नहीं जब ईश्वर का प्रत्यक्ष न हुआ तो अनुमानभी न होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होताहै जिसका

तीन कालमें प्रत्यक्ष नहो उसमें अनुमानहोही नहीं सकता और शब्द प्रमाणसेभी काम न चलेगा क्योंकि वेदके ईश्वर वाक्य होने से वेदको प्रमाण मानतेहैं जब ईश्वर स्वयं असिद्ध होगातो उसका वाक्य वेद कैसे प्रमाण माना जायगा यहां अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि ईश्वर की सिद्धि बिना वेद का प्रमाण हो नहीं सकता और वेद के, विना ईश्वर वाक्य सिद्ध हुवे प्रमाण ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—अनुमान् क्यों नहीं होगा क्योंकि कार्य्यको देखकर कारण का अनुमान से ज्ञान हो सकता है ऐसे ही सृष्टि को प्रत्यक्ष देखकर उसके कारण का अनुमान कर लेंगे।

उत्तर—अनुमान का होना व्याप्ति के आधीन है और व्याप्ति प्रत्यक्ष के आधीन है जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण से नियत कारण कार्य का सम्बन्ध ज्ञान न हो जाय तब तक व्याप्ति नहीं होसकती और जब तक व्याप्ति न हो तब तक अनुमान नहीं होसकता। जैसे जब बादल होता है तभी वृष्टि होती है विना बादल के कभी वृष्टि होती नहीं देखी इस लिये जिसका ३ काल में प्रत्यक्ष न हो उसका अनुमान से ज्ञान नहीं होसकता।

प्रश्न—हम नियम पूर्वक कार्य को बिना चेतन कर्त्ता के नहीं देखते इससे हम नियमित कार्य से चेतन का अनुमान करते हैं यह जगत् भी परिणामी होने से कार्य और नियम पूर्वक होनेसे अपने चेतन कारणके अनुमान का साधक होगा।

उत्तर—मुक्तबध्दयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धि ॥९३॥

अर्थ—संसार में कोई चेतन मुक्त और बद्ध से भिन्न नहीं यदि तुम ईश्वर को बद्ध मानो तो वह सृष्टि करने की शक्ति नहीं रखता। यदि मुक्त मानो तो इच्छा के अभाव से सृष्टि उत्पन्न नहीं करसकता, क्योंकि संसारमें जितनी सृष्टिको नियमित देखते हैं वह कर्त्ता की इच्छा से होती है।

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥६४॥

इस प्रकार मुक्त बद्ध दोनों प्रकार के चेतनसे सृष्टिका होना अनुमान से सिद्ध न होगा इस लिये मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य माननापड़ेगा ईश्वर योगियोंको समाधि अवस्थामें प्रत्यक्ष होतेह क्योंकि स्थिर मनके बिना ईश्वर का बोधक कोई प्रमाण नहीं। ईश्वरको बद्ध और मुक्त दोनों प्रकारका नहीं कहसकते क्योंकि दोनों सापेक्षहैं अर्थात् जो पहिले बंधाहो वह ही बंधसे छुटने से मुक्त कहला सकता है ईश्वर इन दोनों अवस्थाओं से पृथक् है जगत् का करना उसका स्वभाव है इस लिये इच्छा की आवश्यकता नहीं ?

प्रश्न—एक वस्तु में दो विरुद्ध स्वभाव हो नहीं सकते, यदि रचना ईश्वर का स्वभाव मानोगे तो विनाश किस का स्वभाव मानोगे ?

उ०—यह शंका परतन्त्र और अचेतन में हो सकती है क्योंकि कर्त्ता स्वतन्त्र होता है और स्वतन्त्र उसे कहते हैं जिस में करने न करने और उलटा करने की सामर्थ्य हो।

मुक्तात्मनःप्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥६५॥

उपासना के सिद्ध होने से जो मुक्तात्मा की प्रशंसा की जाती है इससे प्रतीत होता है कि ईश्वरहै कि जिसकी उपासना से अविवेक निवृति और विवेक की प्राप्ति होकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है ॥६५॥

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ६६ ॥

प्रकृति क्रिया रहित है उसको क्रिया शक्ति ईश्वर की समीपता से प्राप्त होती है जैसे मणि को कांच की समीपता से सुरखी प्राप्त होती है परत्मा में इच्छा के न होनेसे उसे अकर्त्ता कहा जाता है और बिना उसकी समीपता के प्रकृति जाने में

असमर्थ है जैसे विना हाथ के जीव उठा नहीं सकता इस वास्ते कहते हैं उठाना जीव का धर्म नहीं परन्तु हाथ में जीव के विना क्रिया शक्ति नहीं इस वास्ते जीवात्मा को कर्त्ता माना जाता है ॥ ९६ ॥

विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७ ॥

जो कार्य सामान्य रूप से जगत् में होते हैं वह तो परमात्मा की सत्ता से होते हैं और जो कार्य विशेष रूप से प्रति शरीर से भिन्न २ होते हैं वे जीव की सत्ता से होते हैं संसार के आत्मा को परमात्मा और शरीर के आत्मा को जीवात्मा कहते हैं ॥ ९७ ॥

प्रश्न—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से व और प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि हो गई तो वेद का क्यों प्रमाण माना जाय ? क्योंकि भौतिक पदार्थों का तो प्रत्यक्ष से ज्ञान हो ही जायगा और अभौतिक का योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष से हो जायगा।

उ०—सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

अर्थ—अन्य प्रमाणों से ईश्वर के होने की तो सिद्धि हो जायगी, परन्तु उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। जैसे पुत्रको देखकर उसके पिताके होने का ज्ञान तो अनुमान से हो सकताहै परन्तु उसके रूप और आयु आदिके ज्ञानके वास्ते शब्द की आवश्यकता है इस वास्ते वेद का अवश्य प्रमाण मानना चाहिये ॥ ९८ ॥

अन्तः करणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

अन्तःकरण भी चैतन्य के संयोगसे उज्ज्वलित (प्रकाशित) है अतएव संकल्प विकल्पादि कार्य्यों का अधिष्ठातृत्व अन्तःकरण को है जैसे अग्नि से तपाये हुए लोहे में यद्यपि दाहशक्ति अग्नि

संयोग के कारण है तथापि अन्य पदार्थों के दाह करने को वह लोहशक्ति भी हेतु हो सकती है ॥ ९९ ॥

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०० ॥

जो इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ नहीं दीखता उसके ज्ञानके साधन को अनुमान कहते हैं, जैसे अग्नि प्रत्यक्ष नहीं दीखता किन्तु धूम को देख कर उसका ज्ञान हो जाना इसी का नाम अनुमान है। यह अनुमान व्याप्ति और साचर्य नियम के ज्ञान बिना नहीं होता, जैसे कोई पुरुष पाकशाला आदि में धूम और अ-अग्नि की व्याप्ति न समझ लेगा कि जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि अवश्य होता है तब तक धूम को देखकर अग्नि का अनुमान कदापि नहीं कर सकता। यह अनुमान कितने प्रकार का है इसका निर्णय आगे करेंगे किन्तु प्रथम शब्द प्रमाण का लक्षण करते हैं॥ १०० ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १०१ ॥

यह सूत्र सब शास्त्रों में ऐसा ही है जैसे तीनों वेदों में गा-यत्री मन्त्र एक सम है इसी भांति इस सूत्र को भी जानना चा-हिये। जो पुरुष धर्मिनिष्ठ बाह्य धर्म से धर्मी के ज्ञान को यथार्थ रीति पर जानते हैं तथा शुद्ध आचरणवान् हैं उनका नाम आप्त है उनके उपदेश को शब्द प्रमाण जानना चाहिये अब अगले सूत्र से प्रमाण मानने की आवश्यकता को प्रकट करते हैं ॥१०१

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ॥ १०२ ॥

जब तक मनुष्य को वस्तु का सामान्य ज्ञान हो परन्तु यथार्थ ज्ञान न हो तब तक वह संशय कहाता संशयकी निवृत्ति विना प्रमाण के हो नहीं सकती और संशय की निवृत्ति के विना प्रवृत्ति हो नहीं सकती। प्रमाण से आत्म, अनात्म, सद्, असद्, दोनों प्रकार की सिद्धि होती है इसी कारण प्रमाण का उपदेश किया है ॥ १०२ ॥

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥ १०३ ॥

तीन प्रकार के अनुमान होते हैं पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जैसे धूम को देख कर अग्नि का अनुमान किया जाता है क्योंकि पहले पाकशाला में धूम और अग्नि दोनों देखे थे वैसेही अन्यत्र होंगे इस प्रकार का अनुमान पूर्ववत् कहाता है । जो विषय कभी प्रत्यक्ष नहीं किया उसका कारण द्वारा अनुमान करना शेषवत् कहाता है, जैसे स्त्री और पुरुष दोनों को निरोग और हृष्ट पुष्ट देख कर इन के पुत्रोत्पत्ति होगी यह अनुमान करना वा मेघको देख कर जल वर्षेगा यह अनुमान करना शेषवत् का उदाहरण है । जिस जातीय विषय को प्रत्यक्ष कर लियाहै उसके द्वारा समस्त जाति मात्र के कार्य का अनुमान करना सामान्यतो दृष्ट कहाता है जैसे दो एक मनुष्य को देखकर यह बात निश्चय करली कि मनुष्य के सींग नहीं होते तो अन्य मनुष्य मात्र के सींग न होंगे यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है । इसी भांति सामान्यतोदृष्ट अनुमान में यह बात भी आ सकती है कि जैसे बिना कारण के कार्य की अनुत्पत्ति सामान्यतोदृष्ट है इससे यह निश्चय करलेना चाहिये जहां २ कार्य होगा वहां २ कारण भी अवश्य होगा ।

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥

चैतन्यता का जो अवसान अर्थात् अभाव है उसे भोग कहते हैं, यहां पर महर्षि भोक्ता और भोग को पृथक् २ करते हैं क्योंकि जड़ पदार्थ भोग होते और चैतन्य भोक्ता होता है । तथा भोग सदा परिणामी होता है और भोक्ता एक रस और चैतन्य होता है ।

प्रश्न—क्या जड़ मन और इन्द्रियें भोक्ता नहीं ?

उत्तर—नहीं यह तो भोग के साधन हैं ।

प्रश्न—कर्म तो मन और इन्द्रियां करते हैं तो अकर्ता जीवात्मा उसका फल भोगता है ?

उत्तर—अकर्तुरपिफलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥१०५॥

जिस प्रकार किसानों के उत्पन्न किये अन्नादि का भोग राजा करता है वा सेना के हार जाने से राजा को दुःख होता है इसी प्रकार इन्द्रियोंके किये कर्मों का फल आत्मा भोगता है।

प्रश्न—पहिले मान चुके हो अन्य के कर्म से दूसरे का बंधन नहीं होता अब कहते हो दूसरे का किया दूसरा भोगताहै

उत्तर—स्वतन्त्र कर्ता होता है स्वतन्त्र के किये का फल स्वतन्त्र को नहीं मिलता यह इन्द्रियें और मन स्वतन्त्र नहीं किन्तु आत्मा के करने के साधन हैं जैसे खड्ग से काटने का कर्ता मनुष्य कहलाता है ऐसे ही इन्द्रियों के कर्मों का फल जीव को होता है।

प्रश्न—चैतन्य जीवात्माको दुःखादि विकार कैसे होसक्ताहै?

उत्तर—अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुर्फलावगमः १०६

कर्ताको फल अविवेक से होताहै क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है वस्तु का यथार्थ ज्ञान बिना नैमित्तिक ज्ञान के नहीं रहता इसलिये वह अविवेक से शरीरादि के विकारों को अपने में मानता है जिससे उसे दुःख सुख प्रतीत होते हैं जैसे संसार में लोग प्राकृत धनको अपना मान कर उसके नाश से दुःख मानते हैं ऐसेही अविवेक से शरीर निष्ठ विकारों से जीव अपने को दुःखी सुखी अनुभव करता है।

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ १०७ ॥

जब पुरुष प्रमाणों से यथार्थ ज्ञान को प्राप्त होजाता है त सुख दुःख दोनों ही नहीं रहते क्योंकि जब हमें यह निश्चय हो जाता है कि हम शरीर नहीं और न यह शरीर हमारा है किन्तु प्रकृति का विकार है तो इसके दुःख सुखका हमें लेश भी नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रकृति का ज्ञान नहीं होता इसलिये प्रकृति असिद्ध है क्योंकि वह किसी इन्द्रियका विषय नहीं

उत्तर—विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादाना-
भ्यामिन्द्रियस्य ॥ १०८ ॥

इन्द्रियों के विषय अतिदूरादि कारणों से अविषय होजाते हैं इस वास्ते किसी इन्द्रिय का विषय न होने से प्रकृति की असिद्धि नहीं होसकती है जैसे अभी एकमनुष्य था परन्तु थोडे कालमें दूर चलागया अब वह किसी इन्द्रियका विषय नहीं रहा

प्रश्न—कितने कारणहैं जिनसे वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता

उत्तर—अति दूर होने से, अति समीप होने से, इन्द्रिय के बिगड़ जाने से, मन के स्थिर न होने या मन के दूसरे काम में लगे होनेसे, अति सूक्ष्म होने से, बीचमें परदा होने से इत्यादि और भी कई कारणों से प्रत्यक्ष का विषय अविषय होता है इस लिये किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने से उसकी असिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—प्रकृति का प्रत्यक्ष न होने में क्या कारण है ?

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ १०९ ॥

उत्तर—प्रकृति और पुरुषका सूक्ष्म होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, सक्ष्म होने से अत्यन्त अणु होना अभिप्राय नहीं क्योंकि प्रकृति और पुरुष सर्वत्र व्यापक हैं इन का प्रत्यक्ष योगियों को ही होता है।

प्रश्न—प्रकृति के प्रत्यक्ष न होने से यह क्यों माना जावे कि अति सूक्ष्म होने से प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु प्रकृति का अभाव ही मानना चाहिये, नहीं शशशृंग की अप्रतीति भी अति सूक्ष्म होने से माननी पड़ेगी।

कार्य्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥ ११० ॥

उत्तर—संसार में प्रकृति के कार्यों को देखने से प्रकृति का होना सिद्ध होता है क्योंकि कार्य्य को देखनेसे कारण का अनुमान होता है और इन कार्यों को बिगड़कर सूक्ष्म होकर कारणमें लय होनेसे कारणकी सूक्ष्मता का अनुमान होता है।

वीादिवप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥ १११ ॥

यदि संसार में वादि लोग प्रकृति की असिद्धि में यह हेतु दें कि कोई ब्रह्म को जगत् का कारण मानते हैं कोई परमाणुओं को कोई जगत् को अनुत्पन्न ही मानते हैं तो इस जगत् रूप कार्य्य से प्रकृति के अनुमान करने में क्या हेतु है ? प्रथम तो जगत् का कार्य्य होना साध्य है दूसरे कारण ब्रह्म है या प्रकृति यह संशयात्मिक है इसलिये प्रकृति असिद्ध है ।

तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥ ११२ ॥

जब एक कार्य्य को देखकर कारण का अनुमान होता है और कारणको देखकर कार्य्य का अनुमान होता है तो प्रकृति को कारण सिद्ध मानना अनुचित नहीं क्योंकि सब कार्य्य प्रकृतिमें लय होतेहैं द्वितीय पुरुष जो अपरिणामी है उसको परिणामी प्रकृतिके अविवेक से बन्ध और विवेकसे मुक्ति होती है।

त्रिविधाविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥

सब कार्य्य तीन प्रकार के होते हैं, अतीत अर्थात् गुजरा हुआ दूसरे वर्तमान, तीसरे आनेवाला। यदि कार्य्य को सत् न मानें तो यह तीन प्रकारका व्यवहार जैसे घट टूट गया अथवा घट वर्तमान है अथवा घट होगा, नहीं बनसकेगा दूसरे दुःख सुख मोहादि की उत्पत्ति में विरोध होगा क्योंकि ब्रह्म तो, आनन्दस्वरूप होने से दुःखादि से शून्य है और परमाणु और प्रकृति में नाम मात्र भेद है इसलिये प्रकृति जगत् का कारण सिद्ध है अगले सूत्र में इसे और भी पुष्ट करते हैं।

नासदुत्पादो नृशृंगवत् ॥ ११४ ॥

असत् किसी वस्तु का कारण नहीं होसकता जैसे मनुष्य के सींग नहीं इसलिये संसार में उसका कोई कार्य्य भी प्रतीत नहीं होता न उससे कोई कुछ बना सकता है।

उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥

संसार में सब वस्तुओं का उपादान नियत है जैसे मृत्तिकासे घटतो बन सकता है परन्तु पट नहीं बन सकता या लोहे से तलवार बन सकती है घी से नहीं बनती इसी प्रकार सब पदार्थों के उपादान कारण नियत हैं नियमित कार्य्य कारण भाव के सत् होने से कार्य्य को भी सत् मानना पडे़गा ।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥ ११५ ॥

यह कथन सर्वथा असम्भव है क्योंकि संसारमें ऐसे वाक्यों का साधक कोई भी दृष्टान्तादि नहीं दीखता कि (असतः सज्जायते) अर्थात् असत् से सत् ही उत्पन्न होता है ।

शक्तस्य शक्यकरणात् ॥ ११७ ॥

कार्य में कारण का शक्तिमत्व होना ही उपादान कारण होता है, क्योंकि जिस कारण द्रव्य में जो कार्य्यशक्ति वर्तमान ही नहीं है, उस से अभिलषित कार्य कदापि नहीं होसक्ता, जैसे कि कृष्ण रंग से श्वेत रंग कदापि नहीं होसकता अब इस से यथार्थ सिद्ध होगया कि जैसे कृष्ण रग से श्वेत रंग उत्पन्न नहीं होसकता इसी प्रकार असत् से सत् भी उत्पन्न नहीं हो सकता ।

कारणभावाच्च ॥ ११८ ॥

उत्पत्ति से पहिले ही कार्य का कारण से भेद नहीं है क्योंकि कार्य कारण के भीतर सदैव रहता है जैसे कि तेल तिलों के भीतर रहता है ।

न भावे भावयोगश्चेत् ॥ ११९ ॥

अब इस में प्रश्न पैदा होता है कि कार्य तो नित्य है तो भावरूप (सत्) कार्य में भावरूप उत्पत्तियोग नहीं हो सक्ता, असत् से सत् की उत्पत्ति के व्यवहार होने से । अब इस विषय में सांख्य के आचार्य अपने मत को प्रकाश करते हैं ॥

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ॥ १२० ॥

अब यहां पर संदेह होता है कि यद्यपि उत्पत्ति से पहिले सत् कार्य्य की किसी प्रकार उत्पत्ति हो, परन्तु अब कार्य्य सत्ता अनादि है तो उसका नाश क्यों होसके इसका उत्तर यह है कि कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार और अव्ययहार अभिव्यक्ति निमित्तक है अर्थात् अभिव्यक्ति के भाव से कार्य्य की उत्पत्ति होती है अभिव्यक्ति के अभाव से उत्पत्ति का अभाव है जो पूर्व यह शंका की थी कि यदि कारण में कार्य रहता है तो अमुक कार्य उत्पन्न हुआ ऐसा कहना भी नहीं होसक्ता उसके ही उत्तर में यह सूत्र है कि अभिव्यज्यमान कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तक है पूर्व जो कार्य्य असत् नहीं था उसकी अब उत्पत्ति हुई यह कथन ठीक नहीं है ॥

नाशः कारण लयः ॥ १२१ ॥

"लीङ्"श्लेषणे धातु से लय शब्द बनता है अति सूक्ष्मता के साथ कार्य का कारण में मिलजाना इसी का नाम नाश है कार्य की व्यतीत अवस्था अर्थात् जो अवस्था कार्य की उत्पत्ति से पूर्व थी उसी को धारण करलेना और जो नाश भविष्यत् में होनेवाला है उसी का नाम प्रागभाव नामक नाश है। कोई २ यह कहते हैं कि जो वस्तु नाश होजाती है उस की पुनरुत्पत्ति नहीं होती, परन्तु यह कहना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि इस कथन से प्रत्यभिज्ञा में दोष होगा अर्थात् जिस पदार्थ को दो वर्ष पहिले देखा था उस को ही इस समय देखने से यह ज्ञान होता है कि जो पदार्थ पहिले देखा था उसी को इस समय देखता हूं। इस ज्ञान में यह दोष होगा कि जो ज्ञान पूर्व हुआ था वह इतने दिन तक नष्ट रहा और फिर भी समयानुसार उत्पन्न होगया यदि नष्ट हुवे कार्य की दूसरी वार अनुत्पत्ति ही ठीक होती तो इस में भी अनुत्पत्ति का लक्षण पाया जाता, अतएव यही कहना ठीक है कि नाश को प्राप्त कार्य फिर भी उत्पन्न होसक्ता है। अब यह सन्देह होता है कि यदि पहिले कहाहुआ ही पक्ष ठीक है तो अपने कारण में

कार्य का नाश होता क्यों नहीं दीखता, जैसे तन्तु कपास से पैदा होते हैं परन्तु नाश के समय वह मिट्टी में मिल जाते हैं "इसका उत्तर यह है कि कार्य का कारण में लय होजाना विवेकी पुरुषों को दीखता है और अविवेकियों को नहीं दीखता" जैसे तन्तु मिट्टी के रूप होजाते हैं और मिट्टी कपास के वृक्षरूप होजाती है और वह वृक्ष फूल फल कपास आदि रूप से परिणाम को प्राप्त होता है और जब कार्य का नाम और उसी के समान कुछ बदला हुआ रूप संसार में मौजूद है तब नाश ऐसा कहना भी योग्य नहीं। यही सिद्धान्त महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि जी का भी है कि आकृति नित्य है अब यहां यह सन्देह होता है कि अभिव्यक्ति कार्य्य की उत्पति के पूर्व भी थी या नहीं थी ? यदि थी तो कारण के यत्न से पूर्व अभिव्यक्ति को स्वकार्य जनकता दोष होगा और उत्पत्ति के लिये जो कारण द्वारा यत्न कियाजाता है वह व्यर्थ होगा, यदि कार्य की उत्पत्ति से पहिले अभिव्यक्ति नहीं थी तो सत्कार्य पक्ष में हानि होगी, क्योंकि जब यह कह चुके हैं कि जो कार्य पूर्व था उसी को इस समय उत्पत्ति होती है, किन्तु असत् की उत्पत्ति नहीं होती तो अभिव्यक्ति का पूर्व में अभाव कहने में दोष होगा यदि यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति से दूसरी अभिव्यक्ति कारण द्वारा होती जाती है इसी लिये कारणव्यापार है, ऐसा कहने पर अनवस्था दोष होगा क्योंकि एक से दूसरी दूसरी से तीसरी इसी तरह कहते जाओ लेकिन कहीं भी विश्राम नहीं होसकता इस कारण यह अनवस्था दोष होगया, इन पूर्व कहे दोषों के उत्तर यह हैं। प्रथम तो कारण व्यापार से सब कार्यों की उत्पत्ति होती है इस प्रकार पूर्वोक्त शंका ही नहीं होसकती। दूसरे यदि यह भी मान लिया जाय कि अभिव्यक्ति पहिले नहीं थी तौ भी कारणव्यापार द्वारा उसकी सत्ता प्रकाश करने से ... अ-

रूरी है तब कोई दोष नहीं होसकता । तीसरे यह भी है कि जब कार्य की अनागत अवस्था में (जब तक कार्य उत्पन्न नहीं हुआ) सत्कार्यवाद की कोई हानि नहीं होसकती तब दोष भी नहीं होसकता, क्योंकि जब तक घट पैदा ही नहीं हुआ उससे पहिले भी सत् कार्यवादी मिट्टी में घट को मानते हैं इसी प्रकार अभिव्यक्ति को भी समझना चाहिये, यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि कार्य का प्रागभाव (पहिले न होना) ही नहीं मानते तो घट पहिले नहीं था किंतु अब पैदा हुआ है, ऐसा कहना भी नहीं बनसकता इसका उत्तर यह है कि कार्य की अवस्थाओं का ही भाव अभाव कहते हैं न कि कार्य का और जो अनवस्था दोष दिया उसका उत्तर यह है:—

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ॥ १२२ ॥

बीज और अङ्कुर के समान अर्थात् जब विचार किया जाता है कि पहिले बीज था या वृक्ष इस विषय में परम्परा मानी गई है इसी तरह अभिव्यक्ति मानी गई है, सिर्फ भेद इतना ही है कि उस में क्रमिक परम्परा दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् पहिले कौन था और इसमें एककालिक एक ही समय में एक का दूसरे से उत्पन्न होना यह दोष होगा लेकिन यह दोष इस कारण माना जाता है कि पातञ्जल भाष्य में भी व्यासजी ने कार्यों को स्वरूप से नित्य और अवस्थाओं से विनाशी माना है वहां अनवस्था दोष को प्रामाणिक माना है यह बीजाङ्कुर का दृष्टान्त सिर्फ लौकिक है वास्तव में यहां जन्म और कर्म का दृष्टान्त दियाजाता तो श्रेष्ठ था जैसे जन्म से कर्म होता है या कर्म से जन्म क्योंकि बीजांकुर के झगड़े में कोई २ आदिसर्ग में वृक्ष के बिना ही बीज की उत्पत्ति मानते हैं, [illegible] हैं:—

उत्पत्तिवद्वादोषः ॥१२३॥

जैसे कि घट की उत्पत्ति के स्वरूप को ही वैशेषिकादि असत्कार्यवादी कमी के सबब मानते हैं, अर्थात् यह उत्पत्ति किससे उत्पन्न हुई ऐसा सन्देह नहीं करते सिर्फ एक ही उत्पत्ति को मानते हैं। इसी तरह अभिव्यक्त की उत्पत्ति किससे हुई यह विवाद (झगड़ा) नहीं करना चाहिये सिर्फ अभिव्यक्ति को ही मानना चाहिये, सत्कार्यवादी और असत्कार्यवादी इन दोनों में केवल इतना ही भेद है कि असत् कार्यवादी कार्य उत्पत्ति की पूर्वदशा को प्रागभाव और कार्य कारण में लय हो जाने को ध्वंस कहते हैं और इन दोनों अवस्थाओं में कार्य का अभाव मानते हैं, और इसीप्रकार सत्कार्यवादी कही हुई दोनों अवस्थाओं को अनागत और अतीत कहते हैं तथा उन अवस्थाओं में कार्य का भाव मानते हैं, कार्य से कारण का अनुमान करलेना चाहिये।

प्रश्न—किस किसको कार्य कहते हैं?

उ०—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ॥१२४॥

हेतुमान् अर्थात् कारण वाला, अनित्य अर्थात् हमेश एक सा जो न रहे, अव्यापि अर्थात् एक देश में रहने वाला, सक्रिय क्रिया की अपेक्षा वाला, अनेक जिस के अलग भेद मालूम होंवे, आश्रित कारण के आधीन इसको लिङ्ग अर्थात् कार्य के पहिचानने का चिन्ह कहते हैं।

प्रश्न—जिसमें हेतुमत्वादिक होते हैं वोही प्रधान के लिङ्ग कहे जाते हैं।

उत्तर—तुम्हारा यह कहना सर्वथा असंगत है क्योंकि प्रथम तो इस सूत्र में व पूर्व (पहिले) सूत्र में प्रधान का नाम भी नहीं है, दूसरे सांख्यकार ने प्रधान शब्द को रूढि नहीं माना इसी कारण इस को पुरुष वाचक भी कह सकते किन्तु

प्रकृति वाचक है, तीसरे यदि उनके तात्पर्यानुसार (मतलब के माफिक) यह लिङ्ग पुरुष के ही मान लिये जावें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सांख्यकार के मत में कार्यमात्र की उत्पत्ति प्रकृति से है, एवं प्रकृति और पुरुष का भेद भी माना है एवं परस्परानपेक्षा भी कपिलाचार्य का सिद्धान्त है तो प्रकृति ही से पुरुष का अनुमान नहीं हो सकता हेतुमत्वादि विशेषण देने से कार्य कारण भेद मालूम होता है इसी कारण उस भेद की प्रतीति में प्रमाण देते हैं।

आञ्जस्याद् भेदतो वा गुण सामान्यादेस्तत्सिद्धि प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥१२५॥

अर्थ—आञ्जस्य (प्रत्यक्ष) से, वा कारण के सामान्य गुण कार्य में पाये जाते हैं विशेष गुणों में भेद रहता है इस से और प्रधान व्यपदेश से अर्थात् यह कारण है यह कार्य है इस लौकिक व्यवहारसे कार्य कारण के भेद की सिद्धि होती है

त्रिगुण चेतनत्वादि द्वयोः ॥१२६॥

अब कार्य कारण का भेद कहकर कार्य कारण का साधर्म्य अर्थात् बराबरीपन कहते हैं कि सत्, रज, तम यह तीनों गुण और अचेतनत्वादि धर्म दोनों के समान ही हैं आदि शब्द से परिणामित्वादि का ग्रहण होता है।

प्रीत्य प्रीति विषादाद्यैर्गुणानामन्योन्य वैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥

अर्थ—अब कार्य कारण का परस्पर (आपस में) वैधर्म्य कहते हैं सत्त्व, रज, तम इन गुणों का सुख दुःख मोह इन में अन्योऽन्य वैधर्म्य (एक ही कारण होना) दिखाई पड़ता है इस सूत्र में आदि शब्द से जिनका ग्रहण होता है उन का वर्णन पंच शिखाचार्य ने इस प्रकार करा है कि सत्वगुण से

प्रीति, तितिक्षा सन्तोष आदि सुखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं। इस ही रीति से रजोगुण से अप्रीति शोक आदि दुःखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं एवं तम से विषाद, निद्रा (नींद) आदि मोहात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं, घट रूप कार्य में सिर्फ मट्टी से रूपमात्र का ही वैधर्म्य है।

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यञ्चगुणानाम् ॥१२८॥

अर्थ—लघुत्वादि धर्मों से सत्वादि गुणों का साधर्म्य और वैधर्म्य है जैसे लघुत्व के साथ सर्व सत्वव्यक्तियों का सतोगुण के पदार्थों का साधर्म्य है रज और तम का वैधर्म्य है, एवं चंचलत्वादि के साथ रजो व्यक्तियों का (रजोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है और सत्व तम का वैधर्म्य है, इसही प्रकार गुरुत्व आदि के साथ तमोव्यक्तियों का (तमोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है और सत्व रज से वैधर्म्य है।

प्रश्न—यद्यपि महदादि स्वरूप से सिद्ध हैं तो भी प्रत्यक्ष से उनकी उत्पत्ति नहीं दीखती इसी कारण महदादिकों के कार्य होने में कोई भी प्रमाण नहीं।

उत्तर—उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥ १२९ ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से महदादिक और ही हैं, इस सबब उन्हें कार्य मानना चाहिये जैसे घट मट्टी से अलग है इसी सबब कार्य है, क्योंकि मट्टी कहने से न तो घट का बोध होता है और घट कहने से मट्टी का भी ज्ञान नहीं होता है इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष कहने से महदादिकों का ज्ञान नहीं होता है इस कारण महदादिकों को प्रकृति और पुरुष से भिन्न कार्य्य मानना चाहिये क्योंकि प्रकृति और पुरुष कारण हैं किन्तु कार्य्य नहीं हैं।

परिणामात् ॥१३०॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष परिमित भाव से रहने हैं, कभी घटते बढ़ते नहीं, इसी सबब उन को कार्य नहीं कह सकते क्यों कि :—

समन्वयात् ॥ १३१ ॥

अर्थ—मन को आदि लेके जो महदादिकों का अवान्तर भेद हैं सो अन्नादिकों के मिलने से बढ़ते रहते हैं, और भूखे रहने से क्षीण होते हैं इस पूर्वोक्त समन्वय से भी महदादिकों को कार्यत्व मालूम होता है क्योंकि जो नित्य पदार्थ होता है वह अवयव (टुकड़ा) रहित होता है अतः उसका घटना बढ़ना नहीं हो सकता। इसका खुलासा यह हुआ कि घटना बढ़ना आदि कार्य में हो सकता है कारण में नहीं हो सकता मन आदि अन्न के मिलने से बढ़ते हैं और न मिलने से घटते हैं इसी से महदादिकों का कार्यत्व सिद्ध होता है।

शक्तितश्चेति ॥१३२॥

अर्थ-महदादिक पुरुष के कारण हैं इसी में महदादिकों को कार्यत्व है क्योंकि इनके बिना पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, जैसे कि नेत्रों के बिना कुछ नहीं कर सकता अर्थात् देख नहीं सकता और पुरुष के बिना नेत्र में देखने की शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि नेत्र तो जड़ हैं इस कारण मनुष्य दर्शन रूप क्रिया को नेत्र रूपी कारण के विना नहीं कर सकता इस ही सबब से नेत्रादिकों को कार्यत्व माना है। इस सूत्र में इति शब्द से यह जानना चाहिये कि प्रत्येक कार्य्य की सिद्धि में इतने ही प्रमाण होते हैं।

तद्धाने प्रकृतिःपुरुषो वा ॥ १३३॥

अर्थ—महदादिकों को कार्य नहीं मानें तो महत्तत्व को

प्रकृति वा पुरुष इन दोनों से एक जरूर माना जायगा क्योंकि जो महदादि परिणामी हों तो प्रकृति और महदादि अपरिणामी हों तो पुरुष मानना पड़ेगा।

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष से भिन्न अर्थात् दूसरा और कोई पदार्थ मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उत्तर—तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १३४ ॥

अर्थ—हां हानि है तुच्छत्व दोष की प्राप्ति होती है, क्योंकि लोक (संसार) में प्रकृति और पुरुष के सिवाय अन्य [और] को अवस्तु माना है अर्थात् प्रकृति और पुरुष यह दोही वस्तु हैं और सब अवस्तु (नाचीज़) हैं अतएव इसको प्रकृति का कार्य मानना चाहिये यदि दूसरा मानें तो इस के कारण भी दूसरे ही मानने पड़ेंगे, इस प्रकार महदादिकों को कार्यत्व सिद्ध हुआ, अब उनके द्वारा (ज़रिये से) प्रकृति का अनुमान सिद्ध करते हैं।

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३५ ॥

अर्थ—कार्य से कारण का अनुमान होता है क्योंकि जहां २ कार्य होता है वहीं वहीं कारण भी होता है, और महदादिक भी अपने कार्यों के उपादान कारण हैं जैसे कि तिल रूप कार्य स्वगत (अपने में रहने वाले) तेल का उपादान कारण है इस कथन से महदादिकों के कार्यत्व में किसी प्रकार की हानि नहीं है।

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिंगात् ॥ १३६ ॥

अर्थ—महत्तत्वादिकों की अपेक्षा भी मूल कारण प्रकृति अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है क्योंकि महत्तत्व के कार्य सुखादिकों का प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्मता के कारण प्रकृति का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता है।

प्रश्न—प्रकृति तो परम सूक्ष्म है अतः उसका न होना ही सिद्ध होता है ।

उत्तर—तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥

अर्थ—प्रकृति का अभाव (न होना) नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृति की सिद्धि (होना) मालूम पड़तीहै उसके कार्य्य महदादिक उसको सिद्ध कर रहे हैं यहां तक प्रकृतिका अनुमान समाप्त हुआ अब अध्याय की समाप्ति तक पुरुष का अनुमान कहेंगे ।

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥१३८॥

अर्थ—जिस वस्तु में सामान्य ही से विवाद नहीं है उस को सिद्धि में साधनों की कोई अपेक्षा नहीं जैसे प्रकृति में सामान्य ही से विवाद है, उसकी सिद्धि के वास्ते साधनों की अपेक्षा (ज़रूरत) ज़रूरी है वैसे पुरुष में नहीं है क्योंकि बग़ैर चेतन के संसार में अन्धेरा प्रतीत (मालूम) होगा यहां तक कि बौद्ध भी सामान्यतः कर्मभोक्ता अहं पदार्थ को पुरुष मानते हैं तो उस में किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता, उदाहरण, धर्मवत्–धर्म की तरह, जैसे कि धर्म को सभी बौद्ध नास्तिक आदि मानते हैं वैसे ही एक चेतन को सभी मानते हैं ।

प्रश्न—पुरुष किसको कहते हैं ।

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥१३९॥

अर्थ—शरीर को आदि ले प्रकृति तक जो २३ पदार्थ हैं उनसे जो पृथक् है उसका नाम पुरुष है ।

प्रश्न—शरीरादि से जो भिन्न है उसका ही नाम पुरुष है इस में क्या हेतु है ?

संहतपदार्थत्वात् ॥ १४० ॥

जैसे प्रयग आदिक संहतपदार्थ दूसरे के वास्ते सुख के

देनेवाले होते हैं अपने वास्ते नहीं, इसी प्रकार प्रकृत्यादिक प-दार्थ भी दूसरे के वास्ते हैं स्पष्ट आशय यह है कि प्रकृति आ-दि जितने संहत पदार्थ हैं वह किसी दूसरे के वास्ते हैं और जो वह दूसरा है उसी का नाम पुरुष है और संहत देहादि से भि-न्न का नाम पुरुष है यह पहले भी कह आये हैं। फिर यहां कहना हेतुओं की सिर्फ गिनती बढ़ानी है॥

प्रश्न—पुरुष को प्रकृति ही क्यों न माना जाय इस में क्या कारण है ?

त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥१४१॥

अर्थ—त्रिगुण अर्थात् सत, रज, तम, मोह आदि शब्द से जड़त्वादि इन से विपरीत होने से पुरुष प्रकृति नहीं हो सक्ता अर्थात् वह प्रकृति से भिन्न है क्योंकि त्रिगुणत्व विशिष्ट का नाम प्रकृति है अर्थात् सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन से जिसका सम्बन्ध है उसका ही नाम प्रकृति माना है और जिस में नित्यत्व, शुद्धत्व, बुद्धत्व, मुक्तत्व यह धर्म हैं उसका ही नाम पुरुष है तो विचारना चाहिये प्रकृति और पुरुष में कित-ना भेद है इस ही कारण पुरुष को प्रकृति नहीं मान सकते हैं।

अधिष्ठानाच्चेति ॥१४२॥

अर्थ—और भी कारण है, पुरुष अधिष्टान होने से प्र-कृति से जुदा ही है अधिष्टान अधिष्टेय संयोग से मालूम प-ड़ता है कि दो के विना संयोग हो ही नहीं सकता इस से सि-द्ध हुआ कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है आशय यह है कि जब प्रकृति को आधार कहते हैं तब उस में आधेय भी ज़रूर होना चाहिये वह आधेय पुरुष है।

(प्रश्न) अधिष्ठान किसको कहते हैं ?

उत्तर—आधार को।

प्रश्न—आधार शब्द का क्या अर्थ ?

उत्तर-रखने की जगह जैसे पात्र ।

प्रश्न-अधिष्टेय किसको कहते हैं ?

उत्तर-आधेय को ।

प्रश्न-आधेय शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—रखने की चीज़ को आधेय कहतेहैं जैसे घृत (घी)

भोक्तृभावात् ॥ १४३ ॥

अर्थ-यदि यह कहोकि शरीरादिक ही भोक्त हैंतो कर्ता और कर्म का विरोध होता है क्योंकि आपही अपने को भोग नहीं सकता अर्थात् शरीरादिक प्रकृति के कार्य्य हैं और स्रक्चन्दनादिक भी प्रकृति के कार्य्य है इस कारण आप अपना भोग नहीं कर सक्ता ॥

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥

अर्थ—यदि शरीरादिक को ही भोक्ता माना जायगा तो दूसरा दोष यह भी होगा कि मोक्ष के उपाय करने में किसी की प्रवृति न होगी क्योंकि शरीरादि के विनाश होनेसे आपही मोक्ष होना सम्भव है और तीसरा दोष यह होगा कि सुख दुखःादि प्रकृति के स्वाभाविक धर्म हैं और स्वभाव किसी का नाश नहीं होता इस कारण मोक्ष असम्भव है इससे पुरुष को ही भोक्ता मानना ठीक है पूर्व कहे हुवे प्रमाणों से पुरुष को २३ तत्वों से भिन्न कह चुके अब पुरुष क्या वस्तु है ? यह विचार करते हैं ।

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४५ ॥

इस विषय में वैशेषिक कहते हैं कि प्रकाशस्वरूप आत्मा मन के संयोग होने से बाध्य ज्ञान से युक्त होता है और परमात्मा प्रकाश मय है जड़ प्रकृति से प्रकाश नहीं होसक्ता । लोक में जड़ (प्रकाश रहित) काष्ठ लोष्ठादिक हैं और इन में प्रकाश

किसी सूरत नहीं देखने में आता इस कारण सूर्यादिक के समान प्रकाश रूप पुरुष जानना चाहिये।

प्रश्न—प्रकाशस्वरूप आत्मा में तमादि गुणो का भाव है या नहीं ?

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६ ॥

उत्तर—नहीं, कारण यह है कि पुरुष निर्गुण है इसी सबब चित् सत्, रजादि गुण वाला नहीं होसक्ता क्योंकि गुण प्रकृति के धर्म हैं।

प्रश्न—बहुत तीन गुण पुरुष में मानकर उसको शिव विष्णु और ब्रह्मा कहते हैं ?

उत्तर-श्रुत्या सिद्धस्य नापलापः सत्प्रत्यक्षबाधात १४७

अर्थ–यद्यपि उक्त कथन से पुरुष में गुण कल्पना किया जाता है लेकिन युक्ति और श्रुति इन दोनों से विरुद्ध है क्योंकि श्रुतियों में भी, "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि विशेषणों से पुरुष को निर्गुण ही प्रतिपादन किया है, एवं उस अनुभव प्रत्यक्ष में दोष भी हो सक्ता है क्योंकि वह अनुभव किसको होगा यदि पुरुष को होगा तो ज्ञान को पुरुष से पृथक् वस्तु मानना पड़ेगा इस कारण पुरुष निर्गुण है।

प्रश्न—जो पुरुष प्रकाश स्वरूप ही है तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की कल्पना नहीं हो सक्ती क्योंकि उन अवस्थाओं में प्रकाश स्वरूपता नहीं रहती है यह जीव पर शंका है।

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥१४८॥

अर्थ—पुरुष सुषुप्ति का आद्य साक्षी है अर्थात् जिन अन्तःकरण की वृत्तियों का नाम सुषुप्ति है वह अन्तःकरण पुरुष के आश्रय है इसी कारण उस सुषुप्ति साक्षी पुरुष है और सुषुप्ति अन्तःकरण का धर्म है।

प्रश्न—यदि पुरुष प्रकाश स्वरूप है और अन्तःकरण वृत्तियों का आश्रय है तो वह पुरुष एक है वा अनेक।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥१४९॥

संसार में जन्म को आदि लेकर अनेक अवस्था देखने में आती हैं तो इससे ही सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत हैं क्योंकि यदि सब अन्तःकरण की वृत्तियों का आधार एक ही पुरुष होता तो यह घट है इस घट को मैं जानता हूं, इस घट को मैं देखता हूं इस प्रकार का अनुभव जिस क्षण में एक अंतःकरण को होता है उसी क्षण में सब अन्तःकरणों को होना चाहिये क्योंकि वह एक ही सब का आश्रयी है लेकिन संसार में ऐसा देखने में नहीं आता इस कारण पुरुष अनेक हैं और जो कोई कोई टीकाकार इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जन्मादि व्यवस्था ही से बहुत से पुरुष प्रतीत (मालूम) होते हैं वस्तुतः नहीं उनका कहना इस कारण अयोग्य है "पुण्यवान् स्वर्गे जायते, पापी नरके, अज्ञो बध्यते, ज्ञानी मुच्यते" पुण्यात्मा स्वर्ग में पैदा होताहै, पापी नरक में पैदा होता है, अज्ञ बंधन को प्राप्त होता है, ज्ञानी मुक्त होता है, इत्यादि श्रुतियां बहुत्व (बहुत सारों) को प्रतिपादन (सबूत) करती हैं उन से विरोध होगा।

प्रश्न-एक पुरुष की ही अनेक जन्मादि व्यवस्था होसक्ती हैं या एक पुरुष की एक ही जन्मादि व्यवस्था है।

उपाधि भेदेप्येकस्य नानायोगआकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५० ॥

अर्थ-उपाधि भेद (शरीरादि) होने पर भी एक पुरुषका अनेक जन्मों में अनेक शरीरों से योग (मेल) होता है, जैसे कि एक आकाश का घटादिकों के साथ योग होता है (खुलासा) एक ही परुष जन्मांतर में अनेक उपाधियों को धारण

करता है, और अनेक योगवाला कहाता है आकाश के समान, जैसे कि आकाश एक ही है लेकिन जब घट के साथ योग को प्राप्त होता है तो घटाकाश कहलाता है और मठ के साथ योगको प्राप्त होता है तो मठाकाश कहलाता है लेकिन वे उपाधियां आकाश को एक ही समय और एक ही देश में एक साथ नहीं होसकतीं अर्थात् जितने स्थान आकाश का नाम मठाकाश है, उस वक्त उस ही आकाश का नाम घटाकाश किसी प्रकार नहीं हो सकता किन्तु मठ की उपाधि को नाश करके दूसरे वक्त घट के स्थापन होने पर घटाकाश कह सकते हैं। इस प्रकार ही पुरुष भी एक देशकाल में अनेक उपाधियों (शरीरादि) को नहीं धारण कर सकता है किन्तु अनेक काल में अनेक उपाधियों को धारण करके नानायोग वाला कहने में आता है अर्थात् एक ही जीव कभी मनुष्य कभी पशु पक्षि आदि नाना प्रकार के शरीर धारण करके एक ही रहता है इसही प्रकार अनेक जीव अनेक उपाधियों को धारण करते हैं यह ज्ञानियों को ही अनुभव हो सकता है। और भी इसही विषय में कहते हैं।

उपाधिर्भिद्यत ने तु तद्वान् ॥ १५१ ॥

अर्थ—उपाधि के बहुत से रूप होते हैं और उपाधि को ही नाना रूपों से बोलते हैं लेकिन उपाधि वाला पुरुष एकही है यद्यपि अनेक नव्य (नवीन) वेदान्तशास्त्र के जानने वाले यह कहा करते हैं कि एक ही आत्मा का कार्य कारण उपाधि में प्रतिबिम्ब के पड़ने से जीव ईश्वर का भेद है और प्रतिबिम्ब आपस में जुदे होने से जन्मादि व्यवस्था भी हो सकती है, यह उनका कथन इस प्रकार आरोग्य है इस में भेद और अभेद की कोई कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि बिम्ब (परछाईं वाला) प्रतिबिम्ब (परछाईं) इन दोनों की बिना अलहदगी माने बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो ही नहीं सकता और जीव को

ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं तो देखते है कि प्रतिबिम्ब जड़ है अतएव पुरुष को भोक्ता वद्ध मुक्त कभी नहीं कह सकते हैं और जीव ब्रह्म की एकता के विषय में हानि प्राप्त होगी अतएव सांख्य मतानुसार जीव ब्रह्म को एक मानना भी नहीं होसकता है एक ही ब्रह्म जीव रूप को धारण करता है इस पक्ष का खण्डन इस सूत्र से होता है—

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः॥१५२॥

अर्थ—यदि एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण उपाधियों से मिलकर जीव रूप हो जाता है तो उसमें विरुद्ध धर्म दुःख बन्धनादि का अध्यास अवश्य होगा, इस कारण जीव ब्रह्म को एक मानना योग्य नहीं है।

प्रश्न—जब कि पुरुष को निर्धर्म कह चुके तब जन्म मरण बन्ध आदि धर्म क्यों कर हो सकते हैं।

उत्तर—यह धर्म परिणामी नहीं है, जैसे स्फुटिक मणि के पास काला पीला हरा इत्यादि रंगतों के रखदेने से वह मणि भी नीली पीली काली दीखने लगती हैं लेकिन मणि तो वास्तव में सफेद ही है इस प्रकार ही पुरुष में भी मन के धर्म सुख दुःखादि शरीर के धर्म पिता पुत्रादि प्रतीत होते हैं।

अन्य धर्मत्वेपि नारोपात् तत्सिद्धेरेकत्वात ॥१५३॥

अर्थ—मन आदिकों का धर्म जो सुख दुःखादि उस धर्म का पुरुष में आरोप करने पर भी पुरुष को परिणाभित्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सुख दुःखादि पुरुष के धर्म नहीं है किन्तु मन के धर्म हैं पुरुष जन्मान्तर में एक ही वना रहता है।

प्रश्न—जव हर एक शरीर में एक २ पुरुष है तो नाना

[सैकड़ों] सिद्ध हुए और "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि क अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होगा।

उत्तर—नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥१५४॥

प्रश्न—अद्वैत को प्रतिपादन (सिद्ध) करने वाली श्रुतियों से विरोध न होगा क्योंकि वहां पर अद्वैत शब्द जाति पर है जैसे कि आदमी के समान अनेक आदमी हैं, इस तरह ईश्वर के समान कोई नहीं है जैसे संसार में देखने में आता है कि फलाना पुरुष अद्वितीय है इसका आशय यह ही समझा जाता है कि उसके समान दूसरा और कोई नहीं है। इसही प्रकार ईश्वर को भी अद्वैतत्व अद्वितीय कहते हैं।

प्रश्न—जिस रीति से अद्वैत श्रुतियों का विरोध दूर करने के वास्ते ईश्वरमें अद्वैत शब्द जाति पर कहा उस प्रकार ही पुरुष को भी ईश्वर का ही रूपान्तर क्यों नहीं मानते ?

उ०—विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ॥१५५॥

अर्थ—मनुष्य के बन्ध आदि कारण सब विदित हैं (जाहिर हैं) और ईश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूपहै इस कारण ईश्वर का रूपान्तर नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि जीव ईश्वर का रूपान्तर नहीं है तो अनेक शरीर धारण करने पर भी एक ही पुरुष रहता है इसमें क्या प्रमाण है ?

उ०—नान्धदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥१५६॥

अर्थ—जो पदार्थ अन्धे को नहीं दीखे उसका अभाव नेत्रवान् मनुष्य कदापिनहीं कह सकता क्योंकि उसकी नेत्रेन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो गई है इस कारण उसको दीख नहीं सकता और चक्षुष्मान के नेत्रेन्द्रिय की शक्ति वर्तमान है इस कारण वह अभाव (न होना) नहीं कह सकता।

(प्रश्न) पुरुष मुक्त होते ही अद्वैत ब्रह्म रूप होजाता है।

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ॥ १५७ ॥

अर्थ—यद्यपि वामदेवादिक मुक्त हो गये लेकिन अद्वैत स्वरूप तो नहीं हुवे क्योंकि, यदि मुक्त जीव सब ही अद्वैत स्वरूप होजाते तो आज तक सहज२ सब पुरुष अद्वैत होकर पुरुष का नाम मात्र भी न रहता।

प्रश्न—वामदेवादिकों का परम मोक्ष नहीं हुआ।

अनादावद्ययावदभावाद्भाविष्यदप्येवम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—अनादि काल से लेकर आजतक जो बात नहीं हुई है वह भविष्यत् काल में भी न होगी यही नियम है इससे यह सिद्ध होता है कि अनादि काल से लेकर आज तक कोई भी पुरुष मुक्त होकर ब्रह्म नहीं हुआ क्योंकि पुरुषों की संख्या [गिनती] कमती देखने में नहीं आती और नई पुरुषों की उत्पत्ति मानी नहीं गई है तो भविष्यत् काल में (होनेवाले में) भी ऐसा ही होगा, अब मोक्ष के विषय में सांख्य कार अपना सिद्धान्त [निश्चय] कहते हैं।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥ १५९ ॥

अर्थ—इस वर्त्तमान [मौजूद] काल के दृष्टान्त से यह जानना चाहिये कि पुरुष के बन्धन का किसी समय में भी अत्यन्त उच्छेद नहीं होसकता इसका मतलब यह है कि कोई भी पुरुष ऐसा मुक्त नहीं है कि फिर उसका कभी बन्ध न होसके और इससे यह भी मालूम होता है कि मुक्त पुरुष का फिर भी जन्म होता है।

प्रश्न—मोक्ष का क्या स्वरूप है?

व्यावृत्तोभयरूपः ॥ १६० ॥

अर्थ—मुक्ति संसार के दुःख सुख दोनों ही से विलक्षण है अर्थात् मुक्तिमें पुरुषको शान्त सुख होताहै यह ही स्वरूपहै।

प्रश्न—जब कि पुरुष को साक्षी कह चुके वह साक्षीपना मोक्ष समय में नहीं रह सकता क्योंकि वहां मनादि का अभाव है तो पुरुष सदा एक रूप रहता है यह कहना भी असंगत हुआ।

साक्षात् संबंधात् साक्षित्वम् ॥ १६१ ॥

अर्थ—पुरुष को जो साक्षित्व कहा है वह मन आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध में कहा है किन्तु वास्तव में पुरुष साक्षी नहीं है क्योंकि पाणिनि मुनि ने साक्षी शब्द का ऐसा अर्थ करा है "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इस सूत्र से साक्षी शब्द निपातन किया है, कि जितने समय में निरन्तर देखता है उतने ही समय में उसकी साक्षी संज्ञा है इस से यह सिद्ध होता है कि जितने समय तक पुरुष का मन से सम्बन्ध रहता है उतने ही समय तक पुरुष की साक्षी संज्ञा रहती है अथवा मन के संसर्ग [मेल] से पुरुष में दुःख सुख आदि को माना जाय तो पुरुष को वास्तव में दुःखादि से मुक्त होने में यह दोष होगा कि—

नित्यमुक्तत्वम् ॥ १६२ ॥

अर्थ—यदि पुरुषको नित्यमुक्त मानें तो मुक्तिका साधन करना व्यर्थ होता है और मुक्ति प्रतिपादक जो श्रुतियां हैं उनमें भी दोषारोपण होगा और इस सूत्र के अर्थ में जो विज्ञान भिक्षुने (नित्यमुक्तत्वम्) यह पुरुष को विशेषण दिया है अर्थात् पुरुष को नित्यमुक्त माना है यह कथन इस कारण अयोग्य है कि "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सूत्र से पुरुष को अनित्यमुक्ति कपिलाचार्य ने मानी है, इस से यहां विरोध होगा उन टीकाकारों ने यह न सोचा कि क्या उन ऋषियों की बुद्धि मनुष्यों की बुद्धि के समान क्षणिक होती है कि कभी कुछ कहें और कभी कुछ कहें जबकि उक्त सूत्र इदानीमित्यादि से पुरुषको अनित्य मुक्त प्रतिपादन कर चुके फिर नित्य मुक्त कैसे कह सकते हैं और पूर्वोक्त टीकाकारके कथन में इस

कारण से भी अयोग्यता है कि जो दोष कपिलाचार्य को अपने कहे हुए विशेषणों से दीखे उनके दुरुस्त करने के लिये (साचात् सम्बंधात् साक्षित्वम्) यह सूत्र फिर कहा इसी प्रकार (नित्यमुक्तत्वम्) और [औदासीन्यं] यह दो तरह के दोष आवेंगे उनका समाधान इस अध्याय के अन्त के सूत्र से सिद्ध करदिया गया है इस ही सबब [नित्यमुक्तत्वम्] और (औदासीन्यंचेति] यह दोनों सूत्र दोष के दिखाने वाले हैं।

औदासीन्यंचेति ॥ १६३ ॥

अर्थ—और पुरुष को वास्तव में मुक्त मानें तो औदासीन्य दोष होगा क्योंकि पुरुष का किसी से सम्बन्ध ही नहीं है तो वह किसी कर्म का कर्त्ता क्यों होगा जब किसी कर्म का कर्त्ता तो रहा ही नहीं तो बन्धन आदि में क्यों पड़ेगा तब उस में औदासीन्य दोष होगा इस सूत्र का भाव और पुरुषको कर्तृत्व अगले सूत्र से प्रतिपादन (सबूत) करेंगे।

प्रश्न—" औदासीन्य चेति " इस सूत्रमें इति शब्द क्यों है ?

उत्तर—यह इस वास्ते है कि पुरुष की सिद्धि में दोषादि का खण्डन कर चुके।

उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्
चित्सान्निध्यात् ॥ १६४ ॥

अर्थ—पुरुष में जो कर्तृत्व है सो मनके उपराग से है और मन में जो चित् शक्ति है वह पुरुष के संसर्ग से है यहां पर जो चित् सान्निध्यात् यह दो दफे कहा है सो अध्याय की समाप्ति का जतानेवाला है और इस अध्याय में शास्त्र के मुख्य चारही अर्थ कहे गये हैं (हेय) त्यागने के लायक, (हान त्यागना, हेय और हान और इन दोनों के हेतु।

इति सांख्यदर्शने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

* ओ३म् *

अथ सांख्य दर्शन

भाषानुवाद

द्वितीयोऽध्यायारम्भः

शास्त्र का तो विषय निरूपण कर चुके, अब पुरुष को अपरिणामित्व ठहराने के वास्ते प्रकृति से सृष्टि का होना विस्तार (फैलाव) से द्वितीय (दूसरे) अध्याय में कहेंगे और इसही दूसरे अध्याय में प्रधान के जो कार्य हैं उनके स्वरूप को विस्तार से कहना भी है क्योंकि प्रकृति के कार्यों से पुरुष का ज्ञान अच्छी तरह से होता है कारण यह है कि प्रकृतिके कार्यों के ज्ञान हुवे बिना मुक्ति किसी सूरत नहीं हो सकती, अर्थात् जब तक पुरुष प्रकृति और प्रकृति के कार्य इन तीनोंका अच्छी तरह से ज्ञान न होगा तब तक मुक्ति भी न होगी किन्तु उन के जानने ही से मुक्ति होती है।

प्रश्न—अपरिणामित्व किसको कहते हैं।

उत्तर—जो परिणाम को प्राप्त न हो।

यदि अचेतन प्रकृति निष्प्रयोजन (बे मतलब) सृष्टि को पैदा करती है तो मुक्त को भी बन्धन की प्राप्ति हो सकती है इस आशय को विचार करके सृष्टि में पैदा होने का प्रयोजन इस सूत्र में कहते हैं।

विमुक्त मोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥१॥

अथ—प्रकृति जगत् को पैदा करती है, इस का अभिप्राय जीवों को मुक्त करना है या अपना कोई प्रयोजन रखती है। क्योंकि जब दुःखादिक धर्म मन के माने जाते हैं तो उन के दुःखों से मन ही छूटेगा। और प्रकृति का कार्य होनेसे प्रकृति रूप ही है। इस वास्ते प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रकृति जीवको दुःख से छुड़ाने के वास्ते जगत् को उत्पन्न करती है।

प्रश्न—यदि मोक्ष के वास्ते ही सृष्टि होती है तो एक दफे की ही सृष्टि से सब पुरुषों का मोक्ष हो जाता, बारम्बार सृष्टि के होने का क्या कारण है ?

उत्तर—विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥२॥

अर्थ—एक दफै की सृष्टि से मोक्ष नहीं होता किन्तु बहुत से जन्म मरण व्याधि आदि नाना प्रकार के (सैकड़ों) दुःख से अत्यन्त (बहुत) तप्त (दुःखित) होने पर जब प्रकृति पुरुष का ज्ञान पैदा होता है तब वैराग्य द्वारा मोक्ष होता है और वह वैराग्य एक दफै की सृष्टि से आजों तक किसी को पैदा नहीं हुआ इस में यह सूत्र प्रमाण है :—

न श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलत्वात् ॥३॥

अर्थ—मुक्ति श्रवण मात्र से भी नहीं हो सकती यद्यपि श्रवण भी बहुत जन्मों के पुण्यों से होता हैं तथापि श्रवणमात्र से वैराग्य की सिद्धि नहीं होती है किन्तु विवेक के साक्षात्कार से मुक्ति होती है और साक्षात्कार शीघ्र नहीं होता। अनादि मिथ्या वासना के बलवान् होने से और उस वासना के रहते हुये पुरुष मुक्त नहीं हो सकता किन्तु योगसे जो विवेक साक्षात्कार होता है उसके ही द्वारा [ज़रिये से] मुक्त होता है है और इस योग में सैकड़ों विघ्न पैदा हो जाते हैं इस कारण

यह योग भी बहुत जन्मों में सिद्ध होताहै इस कारण जन्मान्तर में वैराग्य को प्राप्त होकर किसी समय में कोई २ पुरुष मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं किन्तु सब नहीं मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥

प्रश्न—सृष्टि का प्रवाह [जन्म मरण आदि] किस तरह चल रहा है ।

उत्तर—बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥४॥

अर्थ—जैसे कि एक गृहस्थ से सैकड़ों नौकर बाल वृद्ध स्त्री पुरुष आदिका क्रम से भरण पोषण [भोजन वस्त्र आदि] होता है इसी प्रकार प्रकृति के सत्वादि गुण प्रत्येक सैकड़ों पुरुषों को क्रम से मुक्त कर देते हैं इस वास्ते कोई मुक्त हो भी जाते हैं लेकिन और जो बाक़ी मनुष्य हैं उनकी मुक्ति के वास्ते सृष्टि प्रवाह की ज़रूरत है क्योंकि पुरुष अनन्त हैं ।

प्रश्न—प्रकृति सृष्टि की कारण है, इसमें क्या हेतु है ? क्यों कि पुरुष को ही कारण सब मानते हैं ।

उत्तर—प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्यासासिद्धिः ॥५॥

अर्थ—यद्यपि वास्तव में [निस्सन्देह] प्रकृति ही सृष्टि का कारण है तथापि [तौ भी] सृष्टि के करने में पुरुष की अध्यास सिद्धि है ।

प्रश्न—अध्यास किसको कहते हैं ?

उत्तर—अध्यास उसे कहते हैं कि काम दूसरा करै और नाम दूसरे का हो जैसे कि लड़ाईमें योधा [वीर लोग] अपनी शक्तिसे जीत और हार करतेहैं लेकिन वह जीत हार सब राजाओं की गिनी जाती है इसको ही अध्यास कहते हैं ॥

प्रश्न—वास्तव में प्रकृति ही सृष्टि करने वाली कैसे है? क्यों कि सृष्टि को अनित्य शास्त्रोंने प्रतिपादन [सबूत] किया है यदि ऐसा है तो उस सृष्टि का कारण जो प्रकृति है वह भी अनित्य होगी ।

उत्तर—कार्यतस्तात्सिद्धेः ॥६॥

अर्थ—कार्यों के देखने ही से प्रकृति के वास्तवकारणत्व [कारण होने] की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि वह सृष्टिरूपी कार्य प्रकृति के सिवाय और किस का हो सकता है ? यदि पुरुष का कहें तो पुरुष में परिणामित्व की प्राप्ति आती है और यदि प्रकृति का न कहें तो किसका, यह सन्देह पैदा होता है ? इस कारण प्रकृति ही को वास्तव में कारणत्व है और जो सृष्टि के अनित्यत्व में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंक स्वप्न भी अपनी अवस्थामें सत्य ही होताहै इस कारण सृष्टि नित्य है और उसका कारण भी नित्य है ॥

प्रश्न—प्रकृति अपने मोक्ष के वास्ते सृष्टि करने में क्यों तैयार होती है ?

उत्तर—चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥७॥

अर्थ—प्रकृति चेतन पुरुष के कारण से मोक्ष का प्रबन्ध कर सकती है, जैसे किसी के कांटा लग जाय तो उस कांटे को दूर करने के वास्ते कांटे से ही काम लिया जावेगा । परन्तु विना चेतन पुरुष की सहायता से कांटा नहीं निकल सकता। इस वास्ते प्रकृति का बना हुआ मन ही दुःख में फंस जाता है, और इसी के दुःख जीव से आत्मा अपने आप को दुःखी मान लेता है और उस दुःख से छुड़ाने के वास्ते प्रकृतिसे चेतन परमात्मा सृष्टि करते हैं।

प्रश्न—पुरुष में कारणत्व का होना गिनने ही मात्र कहा सो ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति के मेल से पुरुष भी महदादिकों के परिणाम को धारण करलेता है जैसे कि काठ ज़मीन के ही समान होजाता है उसकी तरह पुरुष को भी होना चाहिये ।

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥८॥

अर्थ—प्रकृति के साथ पुरुष का योग होनेपर भी पुरुष वास्तव में सृष्टि का कारण नहीं हो सकता यह प्रत्यक्ष ही है जैसे कि लोहे और अग्नि के संयोग होने पर लोह अग्नि नहीं होसकता यद्यपि इस दृष्टांत से दोनों में परिणामित्व हो सकता है क्योंकि अग्नि और लोहे ने अपनी पहली अवस्था को छोड़ दिया है तौ भी एक ही परिणामी होना चाहिये क्यों कि दोनों परिणामी होने से गौरव होता है और जो दोनों ही को परिणामी मानाजाय तो स्फटिकमणि में लाल या पीले रंग की परछांई पड़ने से जो उस में लाली वा पीलापन आता है वो भी वास्तविक मानना पड़ेगा लेकिन वैसा माना नहींजाता।

प्रश्न—सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण क्या है ?

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥

अर्थ—राग और विराग इन दोनों के योग को सृष्टि कहते हैं। अर्थात् जिस में राग और विराग इन दोनों का योग (मेल) हो उसे सृष्टि कहते हैं इन दोनों का योग होना ही सृष्टि करने का निमित्त कारण है।

प्रश्न—सृष्टि प्रक्रिया (होना) किस तरह होती है।

महदादिक्रमेण पंचभूतानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—महत्तत्वादिकों से आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथिवी, यह पंचभूत पैदा हुवे यद्यपि प्रकृति का सृष्टत्व अपनी मुक्ति के वास्ते हो क्योंकि वह प्रकृति नित्य है किंतु महदादिकों का अपने २ विकार का सृष्टत्व अपनी मुक्ति के वास्ते नहीं हो सकता क्योंकि वह अनित्य है अतएव महदादिकों का सृष्टत्व पराये वास्ते है अपने वास्ते नहीं। और भी प्रमाण है।

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

अर्थ—इन महदादिकों का कारणत्व पुरुष के मोक्ष के

वास्ते है किन्तु अपने वास्ते नहीं है क्योंकि महदादि विनाशी (अर्थात् नाश वाले हैं)

प्रश्न—यदि महदादिकों का कारणत्व (बनाने वालापन) पराये वास्ते है तो प्रकृति के वास्ते होना चाहिये, पुरुष के वास्ते क्यों हैं ?

उत्तर—महदादिक प्रकृति के ही कार्य हैं इस कारण पर शब्द से पुरुष का ही ग्रहण होगा।

प्रश्न—दिशा और काल की सृष्टि किस प्रकार से हुई है ?

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥ १२ ॥

अर्थ-दिशा और काल यह दोनों आकाश से पैदा हुवे इस कारण यह दोनों आकाश के समान नित्य हैं। अर्थात् आकाश में जो व्यापकता है वो व्यापकता इन दोनों में भी है इस कारण यह दोनों नित्य हैं। और जो खण्ड [टुकड़ा] दिशा और काल हैं सो उपाधियों के मेल से आकाश से पैदा होते हैं वे अनित्य होते हैं अब बुद्धि का स्वरूप और धर्म दिखाते हैं।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥

अर्थ-निश्चयात्मिक ज्ञान का नाम बुद्धि है और अध्यवसाय नाम निश्चय का है उस निश्चय को ही बुद्धि कहते हैं।

तत्कार्यं धर्म्मादि ॥ १४ ॥

प्रश्न—उस बुद्धि के कार्य धर्मादिक हैं तो मूर्ख पुरुषों की बुद्धि में अज्ञानादि निन्दित क्यों प्रबल (बलवान्) होते हैं ?

महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५ ॥

अर्थ-मन के संयोग होने से यदि मन में मिथ्या ज्ञान के संस्कार हैं तो धर्मादिक विपरीत [उलटे] होजाते हैं, अर्थात्

अधर्म अज्ञान अवैराग्य, अनैश्वर्य यह सब विपरीत होजाते हैं। अब महत्तत्व के कार्य अहङ्कार को दिखाते हैं।

अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥

अर्थ-अहं करने वाले को अहंकार कहते हैं जैसे कुम्हार को कुम्भकार कहते हैं। और यह अहंकार शब्द अन्तःकरण का नाम है अहंकार और अभिमान यह दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं अब अहंकार का कार्य दिखाते हैं।

एकादश पञ्च तन्मात्रम् यत् कार्यम् ॥ १७॥

नेत्र को आदि लेकर १० इन्द्रियां शब्द को आदि लेकर पंचतन्मात्रा सब अहंकार के कार्य हैं।

सात्विकमेकादशकम् प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ॥१८॥

अर्थ—विकार को प्राप्त हुवे अहंकार से सात्विक मन होता है। और यह भी समझना चाहिये कि राजस रजोगुण वाले अहंकार से सिर्फ दश इन्द्रियां और तामस तमोगुण वाळे अहंकार से पंचतन्मात्रा होती हैं, और मन सतोगुण से होताहै इस कारण उससे ही ग्यारह इन्द्रियां दिखाते हैं।

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ [मूत्रस्थान] यह कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। नेत्र, कान, त्वचा, [खाल] रसना, [जीभ] घ्राण, [नाक] यह पांचो ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं।

प्रश्न—इन्द्रियों की उत्पत्ति पंच भूतों से है ?

आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्नभौतिकानि ॥ २० ॥

अर्थ—बहुत सी श्रुतियां ऐसी देखने में आती हैं जो अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति को कहाती हैं जैसे कि [एकोऽहं बहुस्याम्] एक में बहुत रूपों को धारण करता हूं।

इत्यादि इस कारण आकाशादि पंच भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहना ठीक नहीं।

प्रश्न-[अग्निं वागप्येति वातं प्राणः) अग्नि में वाणी लय होती है और पवन में प्राण लय होता है जब कि अग्नि इत्यादि श्रुतियां कहती हैं कि अग्नि में वाणी लय होजाती है और वायु [हवा] में प्राणलय होजाता है तो उत्पत्ति [पैदायश] भी इन से ही क्यों न मानी जाय ?

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—अग्नि आदि श्रेष्ठ गुण से युक्त पदार्थों में लय दीखता है लेकिन उत्पत्ति नहीं दीखती और यह कोई नियम भी नहीं है जो जिसमें लय हो वह उससे ही पैदा भी हो, जैसे कि जल की बूंद ज़मीं में लय होजाती है लेकिन वह उस से पैदा नहीं होती इस कारण इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार ही से है किन्तु पंचभूतों से नहीं है।

प्रश्न—इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाला मन नित्य है वा अनित्य ?

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

अर्थ-नित्य नहीं है किन्तु अनित्य है क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इस से ही सब इन्द्रियां और मन पैदा होते हैं इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है और मनका नाश भी देखने में आता है क्योंकि बुढ़ापे में चक्षु [तेज] आदि इन्द्रियों की तरह नाश भी होता है इस से मन नित्य नहीं है।

प्रश्न— नासिका आदि इन्द्रियों के गोलक [चिन्हों] को ही इन्द्रिय माना है।

अतीन्द्रियमिन्द्रियंभ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ २३ ॥

अर्थ-हां भ्रान्त मनुष्यों की बुद्धि ने गोलक का नाम

इन्द्रिय माना है लेकिन इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियों से इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—इन्द्रिय एक ही है उस की ही अनेक शक्तियां अनेक विलक्षण काम करती रहती हैं॥

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥

अर्थ—एक इन्द्रिय की भी अनेक शक्तियों के मानने से इन्द्रियों का भेद साबित होगया क्योंकि उन शक्तियों में ही इन्द्रियत्व का स्थापन होसकता है।

प्रश्न—एक अहंकार से अनेक प्रकार की इन्द्रियों की उत्पत्ति होना यह बात तो न्याय से विरुद्ध है क्योंकि एक वस्तु से एक ही वस्तु पैदा होनी चाहिये।

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वस्तु प्रमाण ही से सिद्ध [साबित] है उसके विरुद्ध कल्पना करना न्याय से बिरुद्ध है. क्योंकि महदादिकों में जो गुण दीखते हैं वे महदादिकों के कार्यों में भी दीखते ह इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो सिद्ध है वह न्याय से विरुद्ध नहीं हो सकता। करण वास्तव में तो मन ही है लेकिन उस करण की शक्तियों के भेद से दश इन्द्रियां अपने २ कार्य के करने में तत्पर [लगी] रहती हैं और इस ही बातको अगला सूत्र भी पुष्ट करता है।

उभयात्मकं मनः ॥२६॥

अर्थ—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां इन दशों इन्द्रियों से मनका सम्बन्ध है। अर्थात् मनके बिना कोई भी इन्द्रिय अपने किसी काम के करने में नहीं लग सकती। अब इस कहे हुये सूत्र का अर्थ इस सूत्र में विस्तार [फैलाव] से कहते हैं॥

गुणपरिणामभेदान्नात्वमवस्थावत् ॥२७॥

अर्थ-गुणों के परिणाम भेद से एक मन की अनेक शक्तियां इस तरह होती हैं जैसे कि मनुष्य जैसी संगति में बैठेगा उसके वैसे ही गुण होजांयगे यथा कामिनी स्त्री की संगति से कामी, और वैराग्य शील वाले के साथ वैराग्य शील वाला होजाता है। इसही तरह मन भी नेत्र को आदि ले जिस इन्द्रिय से सङ्गति करता है उस इन्द्रिय से मनका मेल होजाता है। अब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों के विषय में कहते हैं।

रुपादि रसमलान्तउभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—रूपको आदि लेकर और मल त्याग पर्यन्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विषय हैं जैसे कि नेत्रका रूप, जिह्वा (जीभ) का रस, नाक का गंध, त्वचा (खाल) का स्पर्श, कानों का शब्द, मुख का वचन, हाथका पकड़ना, पैरों का चलना, उपस्थका पेशाब करना, गुदा का विष्टा करना यह दशा विषय भिन्न भिन्न हैं और जिस का आश्रय लेकर यह इन्द्रिय संज्ञा को प्राप्त होते हैं उस हेतु को भी कहते हैं।

द्दष्टत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इन्द्रियों का करणत्व आत्मा हैं अर्थात् जो जो इन्द्रियां अपने अपने काम के करने में लगती हैं वे आत्मा के समीप (धोरे) होने से करसकती हैं इस से आत्मा को परिणामित्व की प्राप्ति नहीं होसकती जैसे कि चुम्बक पत्थर के संसर्ग (मेल) से लोहा खिंच आता है ऐसे ही आत्मा के संसर्ग से नेत्र आदि इन्द्रियों में देखने आदि की शक्ति पैदा होजाती हैं। अब अन्तःकरण की वृत्तियों को भी कहते हैं।

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ ३० ॥

अर्थ-मन की तीन वृत्तियां जो चित्त अहंकार और बुद्धि हैं उन का पृथक् २ लक्षण विदित होता है अभिप्राय के समय

अहंकार, विचार के समय चित्त और ज्ञान के समय बुद्धि स्वतः विदित होती हैं।

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्च ॥३१॥

अर्थ–प्राण वायु को आदि लेकर समान पर्यन्त जो पांच वायु हैं यह अन्तःकरण की साधारण वृत्ति कहलाते हैं अर्थात् जो वायु हृदय में रहता है उस का नाम प्राण है। और जो गुदा में रहता है उसका नाम अपान है, और जो कण्ठ में रहता है उसका नाम उदान है, जो नाभि में रहता है उसका नाम समान है और जो सारे शरीर में रहता है उस वायु का नाम व्यान वायु है; यह सब अन्तःकरण के परिणामी भेद हैं और जो बहुत से प्राण और वायु को एक मानते हैं उनका मानना इस सबब से अयोग्य है कि "एतस्माज्जायतेप्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी" इस में प्राण और वायु लो अलहदा अलहदा माना है। अब आचार्य्य अपने सिद्धान्त को प्रकाश करते हैं कि जैसे कई पुरुष इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से (एक समय में एक ही इन्द्रिय काम करेगी) मानते हैं उसको अयुक्त सिद्ध करते हैं।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ ३२ ॥

अर्थ–इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से भी होती है और विना क्रम के भी होती हैं क्योंकि संसार में दीखता है कि एक आदमी जब पानी पीने में तत्पर होता है तब वह देखता भी है ?

प्रश्न—क्या न्याय ने जो एक ही इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होना लिखा है वह ठीक नहीं।

उत्तर–एक काल में दो ज्ञानेन्द्रियां काम नहीं करते परन्तु एक कर्मेन्द्रिय और एक ज्ञानेन्द्रिय साथ २ काम कर सकती हैं।

मन की वृत्तियां ही संसार का निदान हैं अर्थात् जन्म

मरण आदि सब मन की बृत्तियों से ही होते हैं इस को ही कहते भी हैं ।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ३३ ॥

अर्थ–प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) विपर्य्यय (झूंठा ज्ञान) विकल्प (सन्देह) नींद स्मृति (याद होना) यह पांच मन की वृत्तियां हैं और इन से ही सुख दुःख पैदा होता है जब मन की बृत्तियां निबृत्त होजाती हैं इस बात को इस अगाड़ी के सूत्र से साबित करते हैं ।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ ३४ ॥

अर्थ–मन की बृत्तियोंके निबृत होने पर पुरुष का उपराग शान्त होजाता है और पुरुष स्वस्थ होजाता है यही बात योग सूत्र में भी कही गई है कि जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो-जाता है । तब पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होजाता है । पुरुष का स्वास्थ होना ठीक ही है कि उसके उपाधि रूप प्रतिबिम्ब का निबृत होजाना इसको ही दृष्टान्त से भी साबित करते हैं ।

कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि में काले पीले इत्यादि फूलों की परछाई पड़ने से काले पीले रंग वाली वह स्फटिक मणि मालूम पड़ने लगतीहै और जब उन काले पीले फूलों को मणि के पास से अलहदा करदेते हैं तब वह मणि स्वच्छ (साफ) रहजाती है इसही तरह मन की बृत्तियों के दूर होने पर पुरुष राग रहित और स्वस्थ हो जाता है ।

प्रश्न–यह इन्द्रियां किसके प्रयत्न से अपने अपने कार्यों के करने में लगीं रहती हैं क्योंकि पुरुष तो निर्विकार है और ईश्वर से इन्द्रियों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ।

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुष के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उसी कर्म के वश से है जो पहिले प्रकृति को कह आये हैं, और इस का दृष्टान्त भी ३५ वें सूत्रमें दे चुके हैं कि संयोग से जैसे एक का गुण दूसरे में मालूम होता है उसी प्रकार प्रकृति का कर्म पुरुष संयोग से है वोही इन्द्रियों की प्रवृत्ति में हेतु है। इस सूत्र में अपि शब्द से पूर्व कही हुई प्रकृति की याद दिलाकर पुरुष को कर्म से कुछ अंश में मुक्त किया है। और फिर भी इसी पक्ष को पुष्ट करने के वास्ते दृष्टांत देंगे। दूसरे के वास्ते भी अपने आप प्रवृत्ति होती है इस में दृष्टांत भी देते हैं।

धेनु वद्धत्साय ॥ ३७ ॥

अर्थ–जैसे कि बछड़े के वास्ते गौ स्वयं (आपही) दूध उतार देती है दूसरे की कुछभी ज़रूरत नहीं रखती इसी प्रकार अपने स्वामी (पुरुष) के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृति स्वयं (अपने आप) होती है।

प्रश्न—भीतर और बाहर की सब इन्द्रियां कितनी हैं।

करणं द्वादशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—अवानतर भेदसे इन्द्रयां बाहर तरह की हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांच कर्मेन्द्रियां और एक मन और अहङ्कार इन भेदों के होने से।

प्रश्न–अवानतर कहने का क्या प्रयोजन (मतलब) है?

उत्तर–मन सब इन्द्रियों से मुख्य है।

प्रश्न–पुरुष के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति में सिर्फ मन ही मुख्य है और सब इन्द्रियां गौण हैं तो बुद्धि में वो कौनसा मुख्य धर्म है।

इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात् कुटारवत् ॥ ३९ ॥

अर्थ–जैसे कि पेड़के काटने में चोट का मारना मुख्य कारण है और उसके काटने का मुख्य साधन कुल्हाड़ा है इस ही

प्रकार इन्द्रियों को करणत्व और मन को साधारणत्व (जिस के वगैर किसी सूरत में कार्य सिद्ध न हो) का योग है।

प्रश्न—जब कि अहङ्कार भी इन्द्रिय माना गया है तो मन ही मुख्य कारण है ऐसा कहना अयोग्य है।

द्वयोः प्रधानम् मनोलोकवद्भृत्यवर्गेषु ॥ ४० ॥

अर्थ—बाह्य (बाहर) की और आभ्यन्तर (भीतर) की इन बारह प्रकार के भेदवाली इन्द्रियों में मन ही प्रधान है, क्योंकि संसार में भी यही बात दीखती है, जैसे कि राजा के बहुत से नौकर चाकर होते हैं तथापि उन सबके बीच में एक मन्त्री ही मुख्य होता है, और छोटे २ नौकर और ज़िमीदार आदि सैकड़ों होते हैं इस तरह सिर्फ मन प्रधान है और सब इन्द्रियां गौण हैं। और भी मन की प्रधानता को इन तीन सूत्रों से पुष्टि पहुंचती है।

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यद्यपि मन सब इन्द्रियों में व्यापक है तथापि अपने कार्य्य में उस मन का अव्यभिचार (निश्चय) दिखाई पड़ता है।

तथा शेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जहां तक ज्ञान का संस्कार है वह सब बुद्धि (अकिल) में रहते हैं यदि आंख आदि इन्द्रियां अहङ्कार मनको हरबार माने तो अन्धे बहरेको हाफिज़ न होना चाहिये किन्तु यह दृष्टिगोचर होताहै कि कुरान लोगोंको हाफिज़ दूसरों के अतिरिक्त अच्छा होता है और जिस समय तत्व ज्ञान अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की यथार्थता का ज्ञान होजाताहै उस समय मन और अहङ्कार का अपनी वास्तविक दशा में लयहोना दृष्टि गत् करते हैं। किन्तु बुद्धि की स्मरण शक्ति उस समय भी स्थित रहती है और जब बुद्धि की यह स्मरण शक्ति विद्य-

मान है, तो बुद्धि भी विद्यमान मानी जाती है, इसी पर एक और युक्ति देते हैं।

स्मृत्यानु मानाच्च ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्मृति अर्थात् प्राचीन बातों का स्मरण आना केवल बुद्धि के ही कारण से होता है क्योंकि चेतनावृत्ति की हालत में जब बुद्धि का सम्बन्ध अन्य पदार्थों से हट कर किसी एक ही पदार्थ के विचार में लग जाता है। यह सब दशाओं से सर्वोत्तम दशा है। इस सूत्र से यह भी प्रगट होता है कि महात्मा कपिलजी महत्तत्व का अर्थ बुद्धि नहीं, किन्तु चित्तको मानते हैं, या बुद्धि और चित को एक मानते हैं और अविद्या वादी की तरह मन बुद्धि चित्त, अहङ्कार, अन्तः करण चार नहीं मानते।

प्रश्न—क्या चेतना वृत्ति पुरुष अर्थात् आत्मा की होतीहै।

उत्तर—सम्भवेत्तस्वतः ॥ ४४ ॥

स्वमेव जीवात्मा अर्थात् पुरुष को स्मृति का होना सम्भव नहीं—क्योंकि जीवात्मा केवल साक्षी होकर देखने वाला है। और बुद्धि के जैसे संस्कार सामने आयेंगे वैसे ही जीवात्मा को प्रतीत न होंगे। कथनाभिप्रायः है कि जीवात्मा में संस्कार नहीं है।

प्रश्न—जब वुध्दि को कारण मानलिया तो दूसरी इन्द्रियों के मानने की क्या आवश्यता है ?

उत्तर—बिना चक्षु आदि के ज्ञानेन्द्रिय बुद्धि अपना कोई भी कार्य नहीं कर सकती चक्षु आदि के बिना बुद्धि और इन्द्रियों का कार्य सम्पादन कर सके तो अन्धे मनुष्य को भी देखने का बल होना चाहिये क्योंकि बुद्धि तो अन्धों के भी होती है किन्तु संसार में अन्धा देखता है यह दृष्टिगत नहीं होता। इससे प्रत्यक्ष प्रगट है कि बुद्धि प्रधान है और शेष इन्द्रियां इसकी सहायक है।

प्रश्न—जबकि बुद्धि को ही इन्द्रियों का प्रधान मानते होतो सूत्रों में मन का ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रियके साथ सम्बन्ध रखने वाला क्यों स्वीकार किया।

उत्तर—आपेक्षिको गुण प्रधान भावः क्रिया विशेषात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—कार्य के अधिक होने से (सफात) काभी छोटा बड़ा होना उदाहरणीय होता है जिस प्रकार पुलिस के सिपाहियों में थानेदार मुख्य है और थानेदारों में इन्सपेक्टर मुख्य है, इसी प्रकार इन्द्रियों के कार्य में मन प्रधान है (सरदार) और मन के कार्य में अहङ्कार प्रधान है और अहङ्कार के कार्य में बुद्धि प्रधान है।

प्रश्न—मनुष्यकी बुद्धि में सबसे बड़ा यंत्र (औज़ार) है और विशेष सब इन्द्रियां इस से छोटी छोटी हैं इस का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—तत्त्वप्राऽर्जितत्वात् तदर्थमभि चेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

अर्थ-जिस प्रकार हम संसार देखते हैं कि जो मनुष्य तलवार ज़र देता है तो तलवार के कार्य से ज़र देने वाले को लाभ भी होता है इसी प्रकार बुध्दि को भी मनुष्यने कर्म से ज़र दिया है अर्थात् वह कर्म से उत्पन्न होती है, इस वास्ते बुध्दि के कार्यों से मनुष्य को फल होताहै इस लिये बुध्दि को इन्द्रियों में मुख्य मानना चाहिये यदि च यह पूर्व कथन कर चुके हैं कि पुरुष भोग के सम्बन्ध में कर्म से रहित है किन्तु कर्म का करने वाला पुरुष माना जाता है क्योंकि जिस प्रकार सेना की हार जीत से राजा की हार जीत मानी जाती है इसी प्रकार बुद्धि और इन्द्रियों के कर्म जीव में माने जाते हैं।

प्रश्न—जब सब इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का समान सम्बन्ध है तो बुद्धि पर ध्यान क्यों मानें ?

उत्तर—समान कर्म योगे बुध्दे: प्राधान्यं लोक वल्लोकवत ॥ ४७ ॥

यद्यपि इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का समान सम्बन्ध है जिस प्रकार प्रत्येक प्रजा का मनुष्य गवर्नमैण्ट की प्रजा होताहै किन्तु इस पर भी प्रजा द्वारा होकर प्रजा में प्रधान माना जाता है, यह लगातार (सिलसिला) एक दूसरे के लिये है ।

प्रश्न—लौकिक दृष्टान्तानुकूल यह शब्द क्यों कहा ?

उत्तर-इस से इस प्रकरण के समाप्त होने का प्रमाण मिलता है अर्थात् अध्याय की समाप्ती का बोधक है ।

प्रश्न--इस अध्याय में कितने प्रकरणों का वर्णन है ?

उत्तर-प्रकृति के कार्य, प्रकृति सूक्ष्म है, अन्तःकरण और बाह्येन्द्रिय आदिकों का वर्णन है ।

इति द्वितीयोऽध्याय समाप्तः

अथ सांख्य दर्शन

भाषानुवाद

तृतीयाऽध्यायारम्भः

अब इस तीसरे अध्याय में प्रधान जो प्रकृति है तिसका स्थूल कार्य और महाभूत (पृथिवी आदि) और दो तरह के शरीर यह सब कहते हैं ।

अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥ १ ॥

अर्थ—अविशेषात् अर्थात् जिससे छोटी और कोई वस्तु न होसके ऐसे भूत सूक्ष्म अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं से विशेष (स्थूल महाभूतों) की उत्पत्ति (पैदाइश) होती है। क्योंकि सुखादिकों का ज्ञान स्थूलभूतों में ही हो सकता है और सूक्ष्मभूत योगिमहात्माओं के हृदय में प्रकाश होते रहते रहते हैं।

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

अर्थ-तिन पूर्वोक्त (पहले कहेहुवे) बाईस तत्त्वोंसे स्थूल सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—स्थूल शरीर किसको कहते हैं।

उत्तर—जिसका जाग्रतावस्था में अभिमान होताहै।

प्रश्न— लिंग शरीर किसको कहते हैं।

उत्तर—मन अहंकार और इन्द्रियां जिसके ज़रिये से अपने २ काम करने में तत्पर रहते हैं उसको लिंग शरीर कहते हैं।

प्रश्न—कारण शरीर किसको कहते हैं।

उत्तर-लिंग शरीर के कारण को कारण शरीर कहतेहैं।

प्रश्न—बाईस तेईस तत्त्वों के बिना संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर-तद्बीजात् संसृतिः ॥ ३ ॥

अर्थ-बाईस तत्व शरीर के कारण हैं और देखनेमें ऐसा ही आता है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः उन्ही बाईस तत्वों से संसार की उत्पत्ति होती है अब संसार की अवधि को भी कहते हैं।

आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ॥ ४ ॥

अविशेष जो सूक्ष्म भूत हैं तिनकी सृष्टि प्रवृत्ति तभी तक

रहती है जब तक विवेक (ज्ञान) नहीं होता, ज्ञानके होते ही सूक्ष्मभूतों की प्रवृत्ति नहीं रहती ।

प्रश्न-यदि अविवेक के ही वास्ते सृष्टि का होनाहै तो महा प्रलय में भी सृष्टि का होना योग्य (जरूरी) है, क्योंकि उस अवस्थामें भी अविवेक बना रहता है ।

उत्तर—उपभोगादितरस्य ॥ ५ ॥

अर्थ—जब अविवेक के कार्य प्रारब्ध का उपभोग पूरा हो जाता है । तब ही महाप्रलय होती है । जब कि अविवेक का भोग ही बाकी रहा तब सूक्ष्मभूत इस शरीर को क्यों पैदा करेंगे । और महा प्रलयावस्था में प्रारब्ध कर्म का भोग नाश हो जाता है । और संचित कर्म बने रहते हैं क्योंकि कर्म प्रवाह से अनादि है ।

सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥६॥

अर्थ—सृष्टि समय में पुरुष दोनों वासना और भोग बद्ध होता है ।

प्रश्न—परिमुक्त शब्द का अर्थ तो छूटना है, आप बद्ध अर्थ करते हैं ।

उत्तर—पहले अध्याय के सूत्रों में पुरुष को भोगक्तृत्वादि विशेषण देचुके हैं इस कारण यहां अभोक्ता कहना अयोग्य है । दूसरे संसार दशा में ही पुरुष को सुख दुःख न होंगे तो क्या मुक्त अवस्था में होंगे और जो सुख दुःख ही नहीं है तो मुक्ति का उपाय भी कोई न करेगा । तीसरे परिमुक्त शब्द का अर्थ मुक्त करना भी अयोग्य है यहां परि शब्द का अर्थ बद्ध करना ही ठीक है ।

अब स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के शरीरों में भेद कहते हैं ।

माता पितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥ ७ ॥

अर्थ-स्थूल शरीर दो तरहके होतेहैं एक तो वह जो माता के संगम से पैदा होते हैं। दूसरे वह जो माता पिता के पैदा हो जैसे कि वर्षाऋतु में बीरबहुट्टी इत्यादिक होते हैं।

प्रश्न-पूर्व सूत्रों से साबित हुआ कि तीन प्रकार के शरीर हैं लेकिन पुरुष कौन से शरीर की उपाधियों से सुख दुःखका भोक्ता होता है॥

उत्तर-पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य॥८॥

अर्थ-लिंग शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुख दुःखादिक होते हैं। क्योंकि संसार की आदि में लिंग शरीर की ही पैदाइश है इस कारण सुखादिक इसके कार्य हैं अतः एक लिंग शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुखादिक हैं, किन्तु स्थूल शरीर की उपाधियों से नहीं होते। क्योंकि जब स्थूल शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तब उसमें सुखादिक नहीं देखने में आते।

प्रश्न-सूक्ष्म शरीर का स्वरूप क्या है।

उत्तर-सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९ ॥

अर्थ—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, मन, अहंकार और पंच तन्मात्रा (रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्द) यह सूक्ष्म शरीर है।

प्रश्न-यदि लिङ्ग शरीर एक ही है तो अनेक शरीरों की आकृति चेष्टा में भेद क्यों होता है।

उत्तर-व्यक्तिभेद कर्मविशेषात् ॥ १० ॥

अर्थ-स्थूल शरीर अनेक प्रकार के अनेक कर्मों के करने से होतेहैं। अब विचार किया जाताहै तो इससे यही बात साबित होती है कि जीवों के भोग का हेतु कर्म ही है।

प्रश्न-जब कि भोगों के स्थान (रहने की जगह) लिङ्ग शरीर को ही शरीरत्व है तो स्थूल शरीर को शरीर क्यों कहते हैं।

उत्तर—तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥११॥

अर्थ—पंचभूतात्म (स्थूल) शरीर में उस लिंग शरीर अधिष्ठान (रहने का स्थान) के सबब से देह वाद है। अर्थात् लिंग शरीर का आशय स्थूल शरीर है इस ही सबब से स्थूल शरीर को भी शरीर कहते हैं ॥

प्रश्न—स्थूल शरीर लिंग शरीर से दूसरा है इस में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

अर्थ—वह लिंग शरीर बगैर किसी आश्रय के नहीं रह सकता जैसे कि छाया किसी आश्रय के बिना नहीं रह सकती और जैसे कि तसवीर बगैर आधार (रहनेकी जगह) के नहीं खिंच सकती है इस तरह लिंग शरीर भी स्थूल शरीर के बिना नहीं ठहर सकता है।

प्रश्न—यदि लिंग शरीर मूर्त्त द्रव्य है तो वायु आदि के समान उसका भी आधार आकाश हो सकता है और जगह कल्पना करने से क्या मतलब है ॥

उत्तर—मूर्तत्वेऽपि न संघातयोगात्तरणिवत् ॥१३॥

अर्थ—यदि लिंग शरीर मूर्त्तत्व भी है तथापि वह किसी स्थान के विना नहीं रहसकता। जैसे कि बहुत से तेज इकट्टे बगैर पार्थिव (पृथिवी से पैदा होने वाले) द्रव्य के आधार के नहीं रह सकते हैं।

प्रश्न—लिंग शरीर का परिणाम क्या है।

उत्तर—अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥१४॥

अर्थ-लिंग शरीर अणु परिणाम वाला अर्थात् ढका हुआ है। बहुत अणु नहीं है क्योंकि बहुत ही अणु (सूक्ष्म) अवयव रहित होता है और लिंग शरीर, अवयव वाला है कारण यह है कि लिंग शरीरके कार्य दीखते हैं। इसमें युक्ति भी प्रमाण है।

तदन्नमप्यत्वश्रुतेश्च ॥ १५ ॥

अर्थ-वह लिंग शरीर अन्नमय है इस सबब अनित्य है क्योंकि इस विषय में श्रुतियां प्रमाण देती हैं। "अन्नमयं हि सौम्य! मन, आपो मयः प्राणः, तेजोमयीवाक्" हे सौम्य यह मन अन्न मय है प्राण जल मय हैं वाणी तेजोमयी है, यद्यपि मन आदि कार्य भौतिक नहीं है तथापि दूसरे के मेल से इनमें घटना बढ़ना दीखता है। इस सबब से ही अन्नमय मन को माना है ॥

प्रश्न-यदि लिंग शरीर अचेतनहै तो उसको अनेक शरीरों के वास्ते उत्पत्ति क्यों है।

उत्तर-पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥१६॥

अर्थ—लिंग शरीर की पैदाइश पुरुष के वास्ते है। जैसे कि पाकशाला (भोजन बनाने की जगह) में रसोइयेका जाना अपने स्वामी के वास्ते है। इसही तरह लिंग शरीरका होना भी पुरुष के वास्ते है। लिंग शरीर का विचार हो चुका। अब स्थूल शरीर का विचार किया जाता है।

पाञ्चभौतिकोदेहः ॥ १७ ॥

अर्थ-यह शरीर पांचभौतिक कहलाता है अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इनसे इसकी उत्पत्ति है।

चातुर्भौतिकमित्येक ॥ १८ ॥

अर्थ—कोई ऐसा कहते हैं कि चार ही भूतोंसे स्थूल शरीर होताहै क्योंकि आकाश तो अवयव रहित है इसकारण आकाश किसीके साथ विकार को प्राप्त नहीं होसकता है।

एकभौतिकमित्यपरः ॥ १९ ॥

अर्थ-और कोई ऐसा कहते हैं कि यह स्थूल शरीर एक भौतिक है अर्थात् शरीर पार्थिव (पृथिवीका विकार) है और

जो बाकी चार भूत हैं वे सिर्फ नाममात्र ही हैं। या इस प्रकार जानना चाहिये कि एक २ भूत के सब शरीर हैं। मनुष्यों के शरीर में पृथिवी का ज्यादा हैं इस कारण यह शरीर पार्थिव है और तैजस लोक वासियों में तेज ज्यादह है इससे उनका शरीर तैजस है और शरीर स्वभाव से चैतन्य नहीं है इस पक्ष को दूर करते हैं।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२०॥

अर्थ—जब कि पृथिवी आदि भूतों को अलहदा२ करते हैं तब उनमें चेतन शक्ति नहीं दीखती अतः इससे साबित होता है कि देह स्वभाव में चैतन्य नहीं हैं किन्तु किसी दूसरे चैतन्य के मेल से चैतन्य शक्ति को धारण करती है।

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥२१॥

अर्थ-यदि शरीर को स्वभाव से चैतन्य मानाजाय तो यह भी दोष हो सकता है कि प्रपञ्च, मरण, सुषुप्ति आदि भिन्न २ अवस्थाएं नहीं हो सकेंगी, क्योंकि जो देह स्वभाव से चैतन्यहै तो मृत्यु कालमें इसकी चैतन शक्ति कहांको भाग जातीहै और २० वें सूत्र में जोयह बात कहीहै कि हर एक भूतके भिन्न २ करने पर चैतन्यता नहीं दीखती अब इस पक्ष को भी पुत्र करते हैं।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

अर्थ—यदि मदिरा की शक्ति के समान माना जाय जैसे कि अनेक पदार्थों के मिलने से मादकता शक्ति पैदा होजाती है इसही तरह पांच भूतों के मिलने से शरीर में चैतन्य शक्ति पैदा होजाती है ऐसा कहना भी योग्य नहीं है क्योंकि मदिरा में जो मादक शक्ति है वह शक्ति उन पदार्थों में भी है जिन से मदिरा बनी है। यदि यह कहा जाय कि हरएक भूत में थोड़ी चेतनता है और सबके मिलने पर बड़ी चैतन्यता होजाती है ऐसा कहना

भी नहीं बन सकता क्योंकि बहुत सी चैतन्य शक्तियों की कल्पना करने में गौरव होजायगा इस सबब एक ही चैतन्य शक्ति का मानना योग्य है और पहिले जो इस बात को कह आये हैं कि लिंग शरीर की सृष्टि पुरुष के वास्ते है और लिंग शरीर का स्थूल शरीर में सञ्चार भी पुरुष के वास्ते है उसका मतलब अब कहते हैं जोकि अत्यन्त पुरुषार्थ का हेतु है।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३ ॥

अर्थ—लिंग शरीर में जो मन आदि उन से ज्ञान पैदा होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है ॥

बन्धोविपर्ययात् ॥ २४ ॥

अर्थ—विपर्यय नाम मिथ्याज्ञान का है मिथ्याज्ञान से ही सुख दुःख रूप बंधन होता है। ज्ञानसे मुक्ति और मिथ्याज्ञान से बंध होता है इस विषय को तो कहचुके अब मुक्ति का विचार किया जाता है।

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञान से ही मुक्ति होती है इस सब मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है इस वास्ते मुक्ति में ज्ञान और कर्म दोनों हेतु नहीं हो सकते और मुक्ति में इस बात का कोई विकल्प भी नहीं है कि कर्म से मुक्ति हुई या ज्ञान से, क्योंकि इसका तो ज्ञान ही नियत कारण है और इस बात को ही इस सूत्र से मजबूत करते हैं।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥ २६ ॥

अर्थ-जैसे स्वप्नावस्था और जाग्रत अवस्था इन दोनों से पहला तो प्रतिबिम्ब है दूसरा सच्चा है यह स्वप्नावस्था और जाग्रतवस्था दोनों आपस में विरुद्ध धर्म वाले हैं अतः (इस

कारण) एक समय में नहीं रहसकते इसी तरह ज्ञान और कर्म भी एक समय में नहीं रहसकते हैं । बस इसी से सिद्ध होगया कि विरुद्ध धर्म वाले पदार्थ न तो मिल सकते हैं और न मुक्ति का हेतु हो सकते हैं और न इस विषय पर विकल्प करना चाहिये कि किससे मुक्ति होती है । क्योंकि मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है और "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेने के अमृतत्वमानशुः" (कर्म से, सन्तान से, दान से, किसी ने अमृतत्व नहीं पाया है) इत्यादि श्रुतियां भी कर्म को मुक्ति का अहेतु कहती हैं ।

प्रश्न—यदि कर्मका कुछ भी फल न हुआ तो कर्म का करना ही व्यर्थ है ।

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥ २७ ॥

अर्थ—कर्म का विशेष फल नहीं है किन्तु सामान्य ही फल है इस सूत्र में इतर शब्द से कर्म का ग्रहण इसलिये होसक्ता है कि इस प्रकरण में ज्ञान से मुक्ति होती है कर्म से नहीं इसीका प्रतिपादन करते चले आते हैं इस वास्ते ज्ञान के अतिरिक्त कर्म का ही ग्रहण हो सकता है, यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान के अतिरिक्त अज्ञान का ग्रहण किया सो भी ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्र में आचार्य का अपि और नात्यन्तिक शब्द कहना कर्म से न्यून (कमती) फल का जताने वाला है जब इतर से अज्ञान का ग्रहण किया जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि अज्ञान का थोड़ा फलहै बहुत नहीं, इससे थोड़े फल का अभिलाषी अज्ञान को ही उत्तम समझ सकता है इस वास्ते ऐसा अनर्थ करना अच्छा नहीं । इस से आचार्य ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को उत्तम ठहराया है । योगी के संकल्प सिद्ध पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं इस बात को अगाड़ी के सूत्र से और भी साबित करेंगे ।

संकल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

अर्थ-योगी के संकल्प किये हुये पदार्थ भी इसी प्रकार सच्चे हैं।

प्रश्न—जब कि योगी के संकल्पित पदार्थों का कोई कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता तो वह मिथ्या क्यों नहीं हैं।

भावनोपचयाच्छुद्धस्यसर्वं प्रकृतिवत् ॥ २६ ॥

अर्थ—प्राणायामादिकों से योगियों की भावना अर्थात् ध्यान अधिक होता है इस वास्ते सब पदार्थ सिद्ध हैं उन में प्रत्यक्ष कारण देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि हम लोगों के समान योगियों के संकल्प झूठे नहीं होते, जैसे प्रकृति बिना किसी का सहारा लिये महदादिकों को करती है और उस में प्रत्यक्ष कारण की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती इसही प्रकार योगी का ज्ञान भी जानना चाहिये। इन पूर्वोक्त सूत्रों से यह बात सिद्ध होगई कि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है अब ज्ञान किस तरह होता है इस बात को अगाड़ी के सूत्रों से साबित करेंगे।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्ञान के रोकने वाले रजोगुण के कार्य जो विषय वासनादिक हैं उन का जिससे नाश होजाय उसे ध्यान कहते हैं। यहांपर ध्यान शब्द से धारणाध्यान समाधि इन तीनों का ग्रहण है क्योंकि पातञ्जल में योग के आठ अंगों को ही विवेक साक्षात् में हेतु माना है इनके अवान्तर भेद भी उसी शास्त्र में विशेष मिलेंगे बाकी पांच साधनों को आचार्य आप ही कहेंगे अब ध्यान की सिद्धी के लक्षणों को कहते है।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥

जिस का ध्यान किया जावे उस के अतिरिक्त वृत्तियों के निरोध से अर्थात् सम्प्रज्ञात योग से उसकी सिद्धि जानी जाती है और ध्यान तब तक ही करना चाहिये जब तक कि ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) के सिवाय दूसरे की तरफ

को चित्त की वृत्ति न जावे । अब ध्यान के साधनों को कहते हैं ।

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२ ॥

धारणा, आसन और अपने कर्म से ध्यान की सिद्धि होती है । प्रथम धारणा का लक्षण कहते हैं ।

निरोधश्छर्दि विधारणाभ्याम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—छर्दि (वमन) और विधारण (त्याग) अर्थात् प्राण का पूरण रेचक और कुम्भक से निरोध (वंश में रखने) को धारणा कहते हैं । यद्यपि आचार्य ने धारणा शब्द का उच्चारण इस सूत्र में नहीं किया है तथापि अगाड़ीके दो सूत्रों में आसन और स्वकर्म का लक्षण किया है इसी परिशेष से धारणा शब्द का अध्याहार इस सूत्र में कर लिया जाता है । जैसे कि पाणिनि मुनि ने भी लाघव के वास्ते "लट् शेषेच" इत्यादि सूत्रकहे हैं । अब आसन का लक्षण कहते हैं ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ-स्थिर होनेपर जो सुखका साधन हो उसी का नाम आसन है जैसे स्वस्ति का (पालकी) आदि स्थिर होनेपर सुख के साधन होते हैं तो उनको भी आसन कह सकते हैं किसी विशेष पदार्थ का नाम आसन नहीं है । अब स्वकर्म का लक्षण कहते हैं ।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो कर्म अपने आश्रम के वास्ते शास्त्रों ने प्रतिपादन किये हैं । उनके अनुष्ठान को स्वकर्म कहते हैं, यहां पर कर्म शब्द से यम नियम और प्रत्याहार इन तीनों को समझना चाहिये क्योंकि इन का सब वर्णों के वास्ते समान सम्बन्ध है और इन यमादिकों को योग [illegible] तथा

ज्ञान का साधन भी माना है और भी ज्ञान प्राप्ति में उपाय हैं उन को भी कहेंगे।

प्रश्न–यम किस को कहते हैं।

उत्तर—अहिंसा (जीव का न मारना) सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (विषयोंसे बचना) इन का नाम यम है।

प्रश्न—नियम किसको कहते हैं।

उत्तर—शुद्धि, सन्तुष्ट रहना, अपने कर्मों का अनुष्ठान करना, वेदादिक का पढ़ना, ईश्वर भक्ति, इनको नियम कहते हैं।

प्रश्न–प्रत्याहार किस को कहते हैं।

उत्तर—जिस में चित्त इन्द्रियों सहित अपने विषय को त्याग कर ध्यानावस्थित हो जाय उस को प्रत्याहार कहते हैं।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—सांसारिक पदार्थों के विराग अथवा धारणादि पूर्वोक्त तीन साधनों के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है यहां चकार का अर्थ पूर्वार्थ का समुच्चय और आरम्भित जो "ज्ञानान्मुक्तिः" इस विषय के प्रतिपादन की समाप्ति के वास्ते है इस से आगे "बन्धोविपर्ययात्" इस पर बिचार आरम्भ करते हैं।

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७ ॥

अर्थ–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच योगशास्त्र में कहे हुए बन्धके हेतु विपर्यय (मिथ्य ज्ञान) के अवान्तर भेद हैं, अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में, नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि करने का नाम अविद्या है। जिस में आत्मा और अनात्मा की एकता मालूम होवै, जैसे शरीर के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं, ऐसी बुद्धि का होना अस्मिता है, राग और द्वेष के तो लक्षण प्रसिद्ध ही हैं मृत्यु से डरने का नाम अभिनिवेश है यह पांचों बातें बद्ध जीव

में होती हैं और इन का होना भी बन्धन का हेतु है अब बुद्धि को बिगाड़ने वाली अशक्तियों के भेद कहते हैं।

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥ ३८ ॥

अर्थ—अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी है वह प्रकार दिखाते हैं। ग्यारह इन्द्रियों के निघात होजाने से ग्यारह प्रकार की, और नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धि इन से बुद्धि का प्रतिकूल होना यह सब मिल कर अट्ठाईस प्रकारकी बुद्धि अशक्ति बुद्धि में होती है। इन्द्रियों का विघात इस तरह होता है कि कान से सुनाई न देना त्वचा में कोढ़ का होजाना आंखोंसे अंधाहोजाना इत्यादि ग्यारह इन्द्रियों काविषयहोना तथा तुष्टि आदिके जो भेद जिस प्रकार कहेहैं उनसे बुद्धिका विपरीत होना अशक्ति का लक्षण है। जब तक बुद्धि में अशक्ति नहीं होती तब तक अज्ञान भी नहीं होता अब तुष्टिके भेद कहतेहैं।

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—तुष्टि नौ प्रकार की है। इसका अलहदा २ खुलासा आचार्य अगाड़ी के सूत्रों में आपही करेंगे। अतः यहां व्याख्या लिखना व्यर्थ है।

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

अर्थ-सिद्धि आठ प्रकारकी है। इसका खुलासाभी अगाड़ी लिखेंगे। अब पूर्व कहे हुए विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के भेदों की व्याख्या अगाड़ी के चार सूत्रों में करेंगे।

अवान्तरभेदा पूर्ववत ॥ ४१ ॥

अर्थ—विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान के अवान्तर भेद जो सामान्य रीति से पूर्वाचार्यों ने करे हैं उनको उसही तरह समझना चाहिये यहां विस्तार (फैलाव) के भय से नहीं कहे गये अविद्यादिकों के जितने भेद हैं उनकी विशेष व्याख्या विस्तार भय से नहीं करी यदि कहे जावें तो [illegible] ने विद्या

के बासठ भेद माने हैं जिस में आठ २ प्रकारका तम और मोह दश प्रकार का महामोह, अठारह प्रकार का तामिश्र और अठारह ही प्रकार का अन्धतामिश्र, यह सब मिलकर बासठ प्रकार के हुवे, यदि इतने प्रकार के भेदोंकी जुदी २ व्याख्याकी जावे तो एक बड़ाजंगी दफ़्तर भरनेको चाहिये लेकिन हमारी सलाह से इतने भेद मानना और उन की व्याख्या करना सिर्फ झगड़ा ही है।

एवमितरस्या ॥ ४२ ॥

इस ही प्रकार अशक्तिके भेदभी पूर्वाचार्य्योंके कथनानुसार समझने चाहिये।

अध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रकृति उपादान, काल, भाग्य यह चार प्रकार के भेद होने से आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है और पांच प्रकार की बाह्य विषयों से उपराम को प्राप्त होने वाली तुष्टि है। एवं आध्यात्मिकादि भेदों के होने से नौ प्रकार से है कि जो कुछ दीखता है वह सब प्रकृतिका ही परिणामहै और उसको प्रकृति ही करती है मैं कूटस्थ हूं ऐसी प्रकृति के सम्बन्ध में बुद्धि होने का नाम प्रकृपि तुष्टिहै। और जो संन्यासी होकर आश्रम ग्रहण रूपी उपादान से तुष्टि मानते हैं वह उपादान तुष्टि है। जो संन्यासी होकर भी समाधि आदि अनुष्ठानों से बहुत समय में तुष्टि मानते हैं उसे काल तुष्टि कहते हैं। और उसके बाद धर्म मेघ समाधि में जो तुष्टि होती है उसे भाग्य तुष्टि कहते हैं बाह्य पांच प्रकार की तुष्टि इस तरह है कि माला, चन्दन, वनिता (स्त्री) आदि के प्राप्त करने में दुःख पैदा होगा ऐसा कर उनका उनका त्याग कर देना यह एक प्रकार की तुष्टि हुई पैदा किये हुये धन को यातो चोर चुरा ले जायगे या राजा दण्ड देकर छीन लेगा तो बड़ा भारी दुःख पैदा होगा ऐसा विचार कर त्याग देना यह दूसरी तुष्टि है। यह धनादिक

बड़े परिश्रम से संचय किया गया है इसकी रक्षा करनी योग्य है व्यर्थ न खोना चाहिये ऐसा विचार करके जो विषय वासना से बचना है इसको तीसरी तुष्टि कहते हैं। भोग के अभ्यास से काम बृद्धि होती है और विषय प्राप्त के न होने से कामियों को बड़ा भारी कष्ट होता है ऐसा विचार कर जो भोगों से बचना है यह चौथी तुष्टि का लक्षण है हिंसा वा दोषोंके देखने से उपराम हो जाना पांचवीं तुष्टि का लक्षण है यह पांच प्रकार की तुष्टियों की व्याख्या सिर्फ उपलक्षण की मात्र की गई है इनकी अवधि यहीं तक न समझकर इसी प्रकार की और भी तुष्टियां इन्हीं पांच प्रकार की तुष्टियों में परिगणित (गिनना) करलेनी चाहिये।

ऊहादिभि सिद्धिः ॥ ४४ ॥

अर्थ-ऊह, शब्द अध्ययन और तीनों प्रकार के दुःखों का नाश होना, मित्र का मिलना, दान करना, इस तरह आठ प्रकार की सिद्धि होती है। बिना किसी के उपदेश के पूर्व जन्म के संस्कारों से तत्व को अपने आप विचारने का नाम ऊह है दूसरे से सुनकर वा अपने आप शास्त्र को विचारकर जो ज्ञान पैदा किया जाता है उस का नाम शब्द है। शिष्य और आचार्यभाव से शास्त्र पढ़कर ज्ञानवान् होने को अध्यन कहते है। यदि कोई दयावान् अपने स्थान पर ही उपदेश देने आया हो और उसही उपदेश से ज्ञान होगया हो इसको ही सुहृत्प्राप्ति कहतेहैं और धन आदि देकर ज्ञानका जो प्राप्त करना है इसको दान कहते हैं और पूर्वोक्त आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों के विवरण को शास्त्र के आदि में हम वर्णन कर चुके हैं॥

प्रश्न-ऊह आदिकों से ही सिद्धि क्यों मानी जाती है? क्योंकि बहुतेरे मनुष्य मन्त्रों से अणिमादिक आठ सिद्धि मानते हैं तब क्या उनका सिद्धान्त झूंठा हो सकता है?

उत्तर—नेतरादितरहानेन विना ॥४५॥

अर्थ—ऊहादिक पंचक के विना मन्त्र आदिकों से तत्वकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह सिद्धि इतर अर्थात् विपर्यय ज्ञान के विना भी प्राप्त होती है अतएव सांसारिकी सिद्धि होने के कारण वह पारमार्थकी नहीं कहलासक्ती। बस यहां तक समष्टिसर्ग और प्रत्ययसर्ग समाप्त होगया इससे आगे "व्यक्ति भेदः कर्मविशेषात्" इस संक्षेप से कहे हुवे सूत्रको विशेष रूप से प्रतिपादन करेंगे॥

दैवादिप्रभेदा ॥ ४६ ॥

अर्थ—दैव आदि सृष्टि के प्रभेद हैं अर्थात् एक दैवी सृष्टि, दूसरी मनुष्यों की सृष्टि है। यहां पर दैव और मनुष्यों के कहने से यह न समझना चाहिये कि देवता जैसे और साधारण मनुष्य मानते हैं वही हैं किन्तु विद्वानों का नाम देव है और जो झूठ बोलते हैं वे मनुष्य हैं किन्नर, गंधर्व पिशाच आदि यह सब मनुष्यों के ही भेद हैं जैसा कि श्रुतियां कहती हैं।

"सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः, विद्वंसो हि देवाः" इत्यादि और महर्षि कपिलजी को भी यहीबात अभीष्ट (मंजूर) है जैसा कि उन्होंने आगे ५३ वें सूत्र में प्रतिपादन किया है॥

अब सृष्टि का प्रयोग कहते हैं॥

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥

अर्थ—ब्राह्मणोंसे लेकर स्थावरादि तक जितनी सृष्टि है वह सब पुरुष के ही वास्ते है और उसे भी विवेक के होने तक ही सृष्टि रहती है बादको मुक्ति होने से छूटजातीहै। अब तीन सूत्रों से सृष्टि के विभाग को कहते हैं॥

ऊर्ध्वं सत्वविशाला ॥ ४८ ॥

अर्थ-जो सृष्टि ऊपर है वह सत्य प्रधान में यहां पर ऊपर कहने से आचार्य का प्रयोजन ज्ञान के मार्ग से उन्नति करने वालों से है अर्थात् सतोगुणी उन्नति करते हैं क्योंकि सतोगुण प्रकाश करता है इस कारण सतोगुणी अर्थात् ज्ञानी लोग सदा उन्नति करते हैं इस कारण ऊपर जाते हैं ॥

तमोविशाला मूलतः ॥ ४६ ॥

तमोगुणी अन्तः करण वाले जीव नीच गति अर्थात् पशु पक्षी और कीडे, आदि की योनियों को प्राप्त होते हैं ॥

मध्ये रजोविशाला ॥५०॥

अर्थ—और बीच में जो शरीर हैं वे रजोगुण प्रधान हैं बीच का शरीर सामान्य मनुष्य का जन्म है और सब शरीर इसकी अपेक्षा ऊंचे हैं या नीचे सामान्य मनुष्य रजोगुणी होता है सत्पुरुष सतोगुणी, पशु आदि तमोगुणी इसके अन्दर भी भेद हैं ॥

प्रश्न—प्रकृति तो एक ही है लेकिन सृष्टि अनेक तरह की क्यों होती है ?

उत्तर—कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥५१॥

अर्थ—यह सब प्रधान अर्थात् प्रकृति की चेष्टा कर्मों की विचित्रता में होती है इसमें दृष्टान्त भी है जैसे कि कोई दासी अपने स्वामी के वास्ते नाना प्रकार की चेष्टा (टहल) करती है वैसे ही उसका गर्भ अर्थात् पुत्र भी अपने स्वामी के प्रसन्नार्थ नाना प्रकार की चेष्टा करने लगता है अतएव जो जैसा कर्म करैगा उसकी सृष्टि भी वैसा ही कर्म करैगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न-ऊर्ध्व की सृष्टि सत्वगुण प्रधान है तो मनुष्य उस ही से कृतार्थ हो सकता है फिर मोक्ष से क्या करना है ?

उत्तर—आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ५२

अर्थ—उन ऊपर के और नीचे के देशों में भी आवृत्ति योग रहता है अर्थात् जब वहां गये तब सात्विकी वृत्ति रही और यहां रहे तब वोही रजोगुण फिर आगया और वहां भी छोटी बड़ी जातियां होती हैं उन में जन्म होने से ठीक २ सत्व नहीं रहता इस वास्ते ऐसा विचार करना सब तरह छोड़ने योग्य है। और भी इस पक्ष को पुष्ट करते हैं।

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥ ५३ ॥

किसी शरीर में हों चाहे देवता हों चाहे सामान्य मनुष्य अथवा पशु पक्षी बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख सब में होता है इस कारण सब शरीरों की अपेक्षा मुक्त होना ही उत्तम है॥

प्रश्न—जिस से यह शरीर पैदा हुआ है यदि उसी में लय होजाय तब क्या मुक्ति नहीं मानी जायगी?

उत्तर—न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—कारण में लय होजाने से भी कृतकृत्यता नहीं होती क्योंकि जैसे मनुष्य जब जल में डूबता है तो वह कभी ऊपर को आता है कभी नीचे को बैठजाता है इसही तरह जो मनुष्य कारण में लय होगया है कभी जन्म को प्राप्त होता कभी मरण को प्राप्त होता है और ऐसा कहने से आचार्य का यह मतलब नहीं है कि मुक्त जीव कभी जन्म को नहीं प्राप्त होता क्यों कि प्रथम तो आचार्य जीव को नित्य मानते हैं तब उसका कारण ही नहीं तो लय किस में होगा। दूसरे जो डूबे हुवे का दृष्टान्त दिया अशान्ति का पोषक दिया तथा इस में पराधीनता दिखाई किन्तु मुक्त जीवन तो आशान्त है न पराये आधीन है। तीसरे यहां पर सृष्टि का प्रसंग चला आता है किन्तु जीवका विषयभी नहीहै। इसलिये अन्तःकरणके विकारहै

प्रश्न—जबकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं तो प्रकृति ही में सृष्टि का कर्तृत्व क्यों माना जाता है ?

उत्तर—अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥५५॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों अकार्य अर्थात् नित्य हैं तथापि प्रकृति को ही सृष्टि करने का योग है क्योंकि जो परवश होगा वही तो कार्य को करेगा इस विचारसे प्रकृति ही में परवशता दीखती है।

प्रश्न—स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥५६॥

अर्थ—यदि प्रकृतिरूपी पदार्थ को ही सर्वज्ञ और सर्ववित् (विद सत्तायाम् इस धातु का प्रयोग है) सर्व शक्तिमान् मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

उ०—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥५७॥

अर्थ—इस तरह वेद के प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है। प्रकृति में सर्वज्ञत्वादि गुण तो किसी सूरत नहीं हो सकते हैं सर्वज्ञत्वादि गुण तो ईश्वर ही में है।

प्रश्न—प्रकृति ने सृष्टि को क्यों पैदा किया ?

उ०—प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्य भोक्तृत्वा-दुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—प्रधान जो सृष्टि है उसकी सृष्टि दूसरे के वास्ते है क्योंकि प्रकृति भोग नहीं कर सकती। दृष्टान्त जैसे कि ऊंट केशर को अपने ऊपर लाद कर पराये वास्ते लेजाता है लेकिन उस केशर से अपना कुछ ताल्लुक नहीं रखता इस ही प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरे के वास्ते है।

प्रश्न—ऊंट का जो दृष्टान्त दिया गया सो ऊंट चेतनहै और चेतन की चेष्टा दूसरे के वास्ते हो सकती है लेकिन जड़ की नहीं हो सकती।

उ०—अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अचेतनहै तथापि उसकी प्रवृत्ति दूसरे के वास्ते है, दृष्टान्त—जैसे कि दूध जड़ है लेकिन उसकी प्रवृत्ति चैतन्य बछड़ा आदि के वास्ते है और भी दृष्टान्त हैं।

कर्म्मवधृद्दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥

अर्थ—जैसे कि खेती के करने में बीज बोया जाताहै वह अपनी ऋतु के समय में वृक्षरूप को धारण कर दूसरे के उपकारार्थ फल देता है इस प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरों के के वास्ते है।

प्रश्न—ऊंट तो पिटने के डरसे केशरको लादकर लेजाता है लेकिन प्रकृति को तो किसी का डर नहीं है ?

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धा नाद्भृत्यवत् ॥६१॥

अर्थ—जैसे चतुर सेवक अपने स्वामीका सब काम करता और उसमें अपने स्वार्थ (मतलब अपना) का कुछ भी ताल्लुक नहीं रखता इसी तरह प्रकृतिभी अपने आप सृष्टि करती है पुरुष के भय प्रेरणादिक की अपेक्षा नहीं करती।

कर्म्माकृष्टेर्वानादितः ॥६२॥

अर्थ—अथवा कर्मों के अनादि प्रवाह के वश होकर प्रकृति सृष्टि को करती है अब इससे आगे सृष्टि की निवृत्ति के कारणों को कहेंगे।

विविक्तबोधात् सृष्टिर्निवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके६३

अर्थ—जब विविक्त बोध अर्थात् एकान्त ज्ञान होजाता है तब प्रकृति की सृष्टि निवृत्त हो जाती है जैसे रसोइया भोजन बनाकर निश्चिन्त होजाता है फिर उसको कोई काम बाकी नहीं रहता इसही तरह प्रकृति भी विवेक (ज्ञान) को पैदा करके अपनी सृष्टि को निवृत्त करदेती है॥

आशय यह है कि ज्ञान होने से संसार छूट जाता है ॥

प्रश्न—जब कि एकको ज्ञान हुआ और उससे सृष्टि की निवृत्ति होगई तो फिर बाकी जीव बद्ध क्यों रहते हैं ? क्योंकि सृष्टि की निवृत्ति में बंधन न रहना चाहिये ॥

उ०-इतर इतरवत्तद्दोषात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जो विवेक (ज्ञान) रहित है वह बद्ध के बराबर है क्योंकि अज्ञान के दोष से बंधा रहना ही पड़ता है। अब सृष्टि निवृत्ति का फल कहते हैं ॥

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५ ॥

अर्थ-प्रकृति और पुरुष इन दोनों की आपस में उदासीनता का होना ही मुक्ति कहलाता है। दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों में से एक के प्रकृति की उदासीनता ही को अपवर्ग मुक्ति कहते हैं ॥

प्रश्न-जबकि विवेक के कारण प्रकृति पुरुष को मुक्त कर देती है तो और भी पुरुष विवेक से मुक्त होजायंगे ऐसा विचार कर प्रकृति विवेक के डरके मारे सृष्टि करने से विरक्त क्यों नहीं होती ?

उ०-अन्यसृष्टयुपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्यैवारगः ॥ ६६ ॥

अर्थ-यद्यपि प्रकृति एक मनुष्य के ज्ञानी होने से उस के वास्ते सृष्टि से विमुख होजाती है तथापि दूसरे अज्ञानी के वास्ते प्रकृति सृष्टि करने से विमुख नहीं होती दृष्टान्त—जैसे कि किसी मनुष्यने रस्सी देखी उस रस्सी को देखकर उसको प्रथम सांपकी भ्रान्ति हुई और भय मालूम पड़ा बाद को जब उसने विचार करके देखा तो उस को यथार्थ ज्ञान हो गया कि यह सांप नहीं है किन्तु रस्सी है तब उसको आनन्द होगया

तब वह रस्सी उस ज्ञानी को फिर भय नहीं देती किन्तु जो अज्ञानी है उसे तो सांप की भ्रान्ति से भय देती ही है इसही प्रकार प्रकृति की भी व्यवस्था है कि जो बिवेकी है उसके वास्ते इस की सृष्टि नहीं है किन्तु अबिवेकी के वास्ते है ॥

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥

अर्थ–सृष्टि के प्रवाह में जो कर्म हेतु हैं उनके कारण भी प्रकृति सृष्टि करने से विमुख नहीं होती और मुक्त मनुष्य के कर्म छूट जाते हैं इस सबब उसके वास्ते सृष्टि शान्त होजाती है

प्रश्न–जब सब मनुष्य समान और निरपेक्ष हैं तो किसी के वास्ते प्रकृति सृष्टि की निवृत्ति और किसी के वास्ते प्रवृत्ति हो इस में क्या नियम है ?

उत्तर–कर्म का प्रवाह ही इसमें नियम है।

प्रश्न–यह उत्तर ठीक नहीं क्योंकि न मालूम किस मनुष्य का कौनसा कर्म है ? यह भी कोई निश्चय कराहुआ नियम नहीं है ?

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽबिवेको निमित्तम् ॥६८॥

अर्थ–यद्यपि सब पुरुष निरपेक्ष हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता तथापि यह मेरा स्वामी है मैं इसका सेवक हूं वह इस तरह प्रकृति के उपकार में (सृष्टि करने में) अबिवेक ही निमित्त है। खुलासा यह है कि जब प्रकृति यह बात चाहती है कि यह मनुष्य मुक्त हो तब ही उसको अपनी सृष्टि के भीतर रखकर अनेक प्रकार के कार्यों में लगा देती है और उन्हीं कार्यों को करता हुआ वह मनुष्य किसी न किसी जन्म में बिवेकी (ज्ञानी) होकर मुक्त होही जाता है इस वास्ते ही आचार्य ने सूत्र में उपकार शब्द को स्थापित किया है।

प्रश्न–जबकि प्रकृति का स्वभाव वर्त्तमान मान लिया है तो ज्ञान के पैदा होने पर क्यों निवृत्त होजाती है ? क्योंकि जो

जिस का स्वाभाविक धर्म है वह सब जगह एकसा रहना चाहिये ?

नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

अर्थ—जैसे नाच करने वाली का नाच करना स्वभाव है वह सब सभा को नाच दिखाती है और जब नाच करते करते उस के मनोरथ पूरे होजाते हैं तब वह नाच करने से निवृत होजाती है इस ही तरह यद्यपि प्रकृति का सृष्टि करना स्वभाव है परन्तु उस सृष्टि करने का जो प्रयोजन है वह विवेक के पैदा होने से निवृत्त होजाता है अतएव उस से निवृत्ति भी होजाती है। अब मुक्ति से पुनरागमन होता है या नहीं इसपर यहां इस कारण विचार किया जाता है कि इस ऊपर के सूत्र में विवेक के उपरान्त सृष्टि की निवृत्ति प्रतिपादन कर चुके और इसपर यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति यह समझ लेती होगी कि पुरुष को मेरे संयोग (मेल) से अनेक दुःखादि होते हैं अत एव फिर उसका संयोग किसी काल में न करना चाहिये तो इसी मत पर आचार्य विचार करते हैं।

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

अर्थ–पुरुष को मेरे संयोग से दुःख होगा इस बात में प्रकृति अपना दोष जानती है तो भी क्या फिर उसका संयोग नहीं करती किन्तु जरूर करती है जैसे अच्छे वंश की पतिव्रता स्त्री से यदि कोई दोष हो भी जाय और उससे स्वामी को कष्ट भी पहुंचे तब क्या वह अपने पति के पास का जाना छोड़ देगी ? ऐसा नहीं होसकता ज़रूर जायगी । क्योंकि जो पति को त्यागती है तो उसका पतिव्रत धर्म नष्ट होता है। और भी प्रकार से अन्य आचार्यों ने इस सूत्रका अर्थ करा है कि जब प्रकृति अपना दोष जान लेती है तब लज्जा के वश हो फिर कभी पुरुष के पास नहीं जाती जैसे कि कुलवधू नहीं जाती इस अर्थ के करने से उनका मतलब यह है कि मुक्ति से

पुनरावृत्ति नहीं होती परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि विज्ञानभिक्षुने अपि शब्द का कुछ भी आशय नहीं निकाला और न यह समझा कि जो अपने दोष से पति को छोड़ बैठे वह कुल बधू कैसे होसकती है कुल बधू वोही होतीहै जो अपने दोष को स्वामी से माफ करा कर अपने स्वामी की सेवा में तत्पर (लगी) रहै किंतु अन्य टीकाकारों ने इस दृष्टांत के गूढ़ आशय को विना समझे जो लिख दिया है सो योग्य नहीं है अथवा (या) आचार्य्य को यही बात मन्जूर थी कि मुक्ति से फिर नहीं लौटता तो इससे पहिले सूत्र में इस बात को एक दृष्टान्त के द्वारा (ज़रिये से) प्रतिपादन करही चुके थे फिर इस सूत्र को बनाकर पुनरुक्त क्यों करते, इस ही ज्ञापक से सिद्ध है कि मुक्ति से फिर लौट आता है लेकिन इस पुनरुक्ति को अन्य आचार्य नहीं समझे। पुरुष का बन्ध व मोक्ष किस से होता है ? इस बात का विचार करते हैं।

नैकान्ततो बंधमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१॥

अर्थ—पुरुष को बन्ध मोक्ष स्वाभाविक नहीं है किंतु अविवेक ही से होते हैं।

प्रकृतेराञ्जस्यात् संसर्गत्वात् पशुवत् ॥ ७२ ॥

अर्थ-अब बिचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रकृति का संयोग पुरुष को रहता है उसी से पुरुष का बन्ध है प्रकृति का संयोग छूटना ही मोक्ष है जैसे पशु रस्सी के संयोग से बंध जाता है और उसका संयोग छूटजाता है तब मुक्त हो जाता है इस ही तरह मनुष्य को भी जानना चाहिये।

प्रश्न—प्रकृति कौन से साधनों से बन्धन करती है और कैसे मुक्त करती है ?

रूपैः सप्तभिरात्मानम् बध्नाति प्रधानम् कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ॥ ७३ ॥

अर्थ–धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य इनके साथ रूपों से प्रकृति पुरुष का बन्धन करती है जैसे तलवार के म्यान बनाने वाले की कारीगरी से तलवार ढकी रहती है इसी तरह प्रकृति से पुरुष को भी समझना चाहिये और वह प्रकृति ज्ञान से आत्मा को दुःखों से मुक्त करदेती है।

प्रश्न—जब मुक्ति में हेतु ज्ञान कहा और धर्म्मादिक सब बन्धन के हेतु कहे तो धर्म में क्यों किसी की प्रवृत्ति होगी और क्यों ध्यानादि के वास्ते उपाय किया जावेगा ?

निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः ॥ ७४ ॥

अर्थ–मुक्ति के न होने में अज्ञान ही (अविवेक) निमित्त है इस वास्ते उस की निवृत्ति ही के वास्ते यत्न करना चाहिये और उस यत्न में धर्म्मानुष्ठान आदि चित्तशोधक कर्म भी परिगणित हैं अतः उनकी हानि नहीं होसकती क्यों कि बिना धर्म ध्यान आदि किये कोई भी ज्ञानवान् हो ही नहीं सकता विवेक कैसे होता है उसका उपाय कहते हैं।

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः॥७५॥

अर्थ–देह आत्मा नहीं है, पुत्र आत्मा नहीं है इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं, मन आत्मा नहीं है। इस प्रकार नेति नेति करके त्याग से और तत्वाभ्यास करने से विवेक की सिद्धि होजाती है श्रुति भी इसही आशय को कहती है। "अर्थात आदेशो नेति नेती तित्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥ ७६ ॥

अर्थ—कोई मूर्ख बुद्धि वाले होते हैं कोई विलक्षण (श्रेष्ठ) बुद्धि वाले होते हैं। इस कारण एक ही जन्म में सबको विवेक (ज्ञान) होजावे यह नियम नहीं है किन्तु श्रेष्ठ अधिकारी एक जन्म में भी विवेकी होसकता है।

बाधितानुवृत्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥

अर्थ—जिसको विवेक साक्षात्कार हो भी गयाहै उसको भी कर्मों का भोग भोगना होगाही, क्योंकि यद्यपि कर्म एकबार बाधित भी कर दिये जाते हैं तथापि उन की अनुवृत्ति होती है प्रारब्ध आदि संज्ञावाले कर्म सर्वथा विनाशको प्राप्त नहीं होते।

जीवन्मुक्तश्च ॥७८॥

अर्थ-जब विवेक होजाता है तब इस शरीर की मौजूदगी में भी मुक्त होसकता है उसको ही जीवन्मुक्त कहतेहैं। अब जीवन्मुक्त होने का उपाय भी कहते हैं।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥

अर्थ—जब शिष्य बनकर गुरु के मुख से शास्त्रों को पढ़ेगा और बिचार करने से विवेक की उत्पत्ति हो जावेगी तो जीवन्मुक्त होना कुछ मुशकिल बात नहीं है। विना गुरुद्वारा उपदेश के जीवन्मुक्त नहीं हो सकता। इसही विषय को श्रुति भी प्रतिपादन करती है।

श्रुतिश्च ॥८०॥

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै सविद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तान्यत्वतो ब्रह्मविद्याम्।

अर्थ—जबकि जिज्ञासु पुरुष को सत्य के जानने की अभिलाषा हो उस समय समित्पाणि अर्थात् पुष्पादिक हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ (वेद के जानने) वाले गुरु की शरण ले फिर उस महात्मा गुरु को चाहिये कि ऐसे शिष्य को धोखे में न डाले और वह उपदेश करना चाहिये कि जिस कारण से वह शिष्य सत्य मार्ग को प्राप्त हो जाय।

प्रश्न—ब्रह्मनिष्ठ गुरु की ही शरण क्यों ले और भी तो बहुतेरे होते हैं।

उ०—इतरथान्धपरम्परा ॥ ८१ ॥

अर्थ—यदि ज्ञानवान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ज्ञान न लिया जावै तो क्या मूर्खों से लिया जायगा तो अन्धपरम्परा गिनी जायगी जैसे एक अंधा कुवे में गिरा तो सब ही अंधे कुवें में गिर पड़े इसही प्रकार मूर्ख की शरण लेने से सब मूर्ख रह जाते हैं।

प्रश्न—जब ज्ञान से कर्म नाश होजाते हैं तो फिर शरीर क्यों रहता है और उसकी जीवन्मुक्त संज्ञा कैसे होती है ?

उत्तर—चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥८२॥

अर्थ—जैसे कुम्हार का चाक घड़ा भोलुआ इत्यादिक के बनाने के समय दंडेसे चलाया जाता है और कुम्हार बर्तनों को बनाकर वह उतार भी लेता है लेकिन उस चलाने का ऐसा वेग होता है कि पीछे बहुत देर तक वह चाक घूमता रहता है इसही तरह ज्ञान के पैदा होते ही यद्यपि नये कर्म पैदा नहीं होते तथापि प्रारब्ध कर्मों के वेग से शरीर को धारण करे हुवे जीवन्मुक्त रहता है।

प्रश्न—यद्यपि चक्र के घूमने में दण्डे की कोई ताड़ना उस समय नहीं है तो भी वह पहिली ताड़नाके कारणसे चलता है किन्तु जब जीवन्मुक्त के सब रागादि नाश हो जाते हैं तो वह उपभोग किसके सहारे से करता है ?

उ०—संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥

अर्थ रागादिकों के संस्कार का भी लेश रहता है उसी के सहारे से उपभोग की सिद्धि जीवन्मुक्त को होजातीहै वास्तविक (असली) राग जीवन्मुक्त को नहीं रहते। यह सब जीवन्मुक्त के विषय में कहा। अब विना देह की मुक्ति के वास्ते अपना परम सिद्धान्त कह कर अध्याय को समाप्त करते हैं।

विवेकान्निः शेष दुःखनिवृत्तौ कृत कृत्यता
नेतरान्नेतरात् ॥ ८४ ॥

अर्थ—विवेक ही से सब दुःख दूर होते हैं तब जीव कृत-कृत्य होता है। दूसरे से नहीं होता। पुनरुक्ति अर्थात् नेतरात् नेतरात् इसका दो दफे कहना पक्ष की पुष्टि और अध्याय की समाप्ति के वास्ते है।

* इति सांख्यदर्शने तृतीयोऽध्यायः समाप्तः *

अथ सांख्यदर्शने ।

चतुर्थोऽध्यायारम्भः

इस अध्याय में विवेक (ज्ञान) साधनों का वर्णन करेंगे।

राजपुत्रवत्तत्वोपदेशात् ॥ १ ॥

अर्थ—पूर्व सूत्र से यहां विवेक की अनुवृत्ति आती है। राजा के पुत्र के समान तत्वोपदेश होने से विवेक होता। यहां यह कथा है कि कोई राजा का पुत्र गंडमाला रोग से युक्त पैदा हुआ था इस कारण वह शहर में से निकाल दिया गया और उसको किसी शवर (भील) ने पाल लिया जब वह बड़ा हो गया तब अपने को भी शवर मानने लगा कालान्तर में (कुछ दिनों के बाद) उस राजपुत्र को जीता हुआ देखकर कोई वृद्धमंत्री बोला हे ! (पुत्र) तू शवर नहीं है किन्तु राजपुत्र है ऐसे वाक्यों को सुन कर वह राजपुत्र शीघ्र ही उस शवर भाव के मान का त्याग कर तात्विक राज भावको धारण करने लगा

कि मैं तो राजा हूं, इस प्रकार चिरबद्ध जीव भी अपने को बद्ध मानता है और जब तत्वोपदेश से उसको ईश्वर विषयक ज्ञान होता है तब विवेकोत्पत्ति से उसको मुक्ति प्राप्त होती है इस सूत्र के अर्थ से कोई २ टीकाकार "ब्रह्मास्मि" वाला सिद्धान्त निकालते हैं कि जीव पहिले ब्रह्म था इस कारण मुक्त था किन्तु अज्ञान से बंध गया है जब तत्वोपदेश हुआ तो विवेक होने से मुक्ति होगई। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि पहिले तो ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्य्य ने इस बात का खंडन किया है दूसरे सूत्र में जो राजपुत्र ऐसा शब्द कहा है उस से साफ मालूम होता है कि आचार्य जीव और ब्रह्ममें भेद मानते हैं इस वास्ते जीव को छोटामान कर राज पुत्रवत् ऐसा कहा है नहीं तो राजवत् ऐसा ही कह देते किन्तु दो अक्षरों का ज्यादा कहना इसही आशय से है कि कोई एक ब्रह्म के रूपान्तर का अर्थ न समझले।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥ २ ॥

अर्थ—एक के वास्ते जो उपदेश किया जाता है उस से दूसरा भी मुक्त होजाता है जैसे कि एक समय श्रीकृष्ण जी अर्जुन को उपदेश कर रहे थे लेकिन एक पिशाच भी सुन रहा था वह पिशाच उस उपदेश को सुनकर उस के अनुष्ठान द्वारा मुक्ति को प्राप्त होगया।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात ॥ ३ ॥

अर्थ—यदि एक दफे के उपदेश से विवेक प्राप्ति न हो तो फिर उपदेश करना चाहिये क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है कि श्वेतकेतुके वास्ते आरुणि आदि मुनियों ने बार२ उपदेश किया था।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात ॥ ४ ॥

अर्थ—विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों दीखते

हैं। दृष्टान्त, कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोड़कर पर देश गया था जब वह आया देखता क्या है कि पुत्र पैदा हो कर पूरा जवान होगया लेकिन न तो वह पुत्र जानता है कि यही मेरा पिता है और न वह पुरुष जानता है कि यही मेरा पुत्रहै तब उसस्त्रीने दोनोंको प्रबोध (ज्ञान)कराया कि यह तेरा पिता है तू इसका पुत्र है इसही तरह विवेक भी प्रकृति और पुरुष का जाननेवाला है।

श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार का यह नियम है कि जब जब द्रव्य प्राप्ति होती है तब तब तो आनन्द और जब वह द्रव्य चला जाता है तब ही रंज होता है। दृष्टान्त, कोई श्येन (बाज) किसी पक्षी का मांस लिये चला जाता था उसी समय किसी व्याध ने पकड़ लिया और उससे वह मांस छीन लिया तो वह बड़ा भारी दुःखी होने लगा यदि आप ही उस मांस को त्याग देता तो क्यों दुःख भोगता ? इस कारण आपही विषय बासना इत्यादि का त्याग करदेना चाहिये।

आहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥ ६ ॥

अर्थ-जैसे सांप पुरानी कैंचली को छोड़ देता है इसही तरह मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा करने वाले) को विषय त्याग देने चाहियें।

छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

अर्थ—जैसे किसी मनुष्य का हाथ कट कर गिर पड़ता है फिर वह उस कटे हुवे हाथ से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखता इसही तरह विवेक प्राप्त होने पर जब विषय बासना नाश होजाती हैं तब मुमुक्षु फिर उन विषय बासनाओं से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है॥

आसाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मोक्ष का साधन नहीं है लेकिन धर्म में गिन कर साधन वर्णन करदिया तो उसका जो विचार है सिर्फ बन्धन का ही कारण होगा न मोक्ष का। दृष्टान्त, जैसै राजर्षि भरत यद्यपि मोक्ष की इच्छा करनेवाले थे लेकिन किसी ने अनाथ कोई हिरन का बच्चा महात्मा को पालनेके वास्ते देदिया और उस अनाथ हिरन के बच्चे के पालन पोषण में महात्मा का विवेक प्राप्ति का समय नाश होगया और मुक्ति न हुई यद्यपि अनाथका पालन राजाका धर्म था तथापि उसके पालनके विचार में महात्मा से विवेक साधन न हो सका इस वास्ते बंध का हेतु होगया। इस ही वास्ते कहते हैं धर्म कोई और वस्तु है और विवेक साधन कुछ और वस्तु है।

बहुभिर्योगे विरोधोरागादिभिः कुमारीशंखवत् ॥९॥

अर्थ–विवेकसाधन समय बहुतों का संग न करै किन्तु अकेले ही विवेकसाधन को करे। क्योंकि बहुतों के साथ में राग द्वेषादिक की प्राप्ति होती है उस से साधन में विघ्न होने का भय प्राप्त हो जाता है। दृष्टांत, जैसे कि कोई कुमारी (कन्या) हाथों में चूडियां पहर रही थी जब दूसरी कन्या के साथ उस का मेल हुआ तब आपस में धक्का लगकर चूडियों का झनकार शब्द हुआ इस ही तरह यहां भी विचारना चाहिये कि बहुतों के संग में विवेक साधन नहीं होसकता।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥ १० ॥

अर्थ—दो के साथ भी विवेक साधन नहीं होसकता क्योंकि दो आदमियों में भी राग द्वेषादिक का होना सम्भव है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥ ११ ॥

अर्थ—जो मनुष्य आशा को त्याग देता है वह सदैव

पिंगला नाम वेश्या के समान सुख को प्राप्त होता है। दृष्टांत, पिंगलानाम वाली एक वेश्या थी उसको जार मनुष्यों के आने का समय देखते देखते बहुत रात बीत गई लेकिन कोई विषयी उसके पास न आया तब वह जाकर सो रही बाद को फिर उस वेश्या को ख्याल हुआ शायद अब कोई आदमी आवै ऐसा विचार कर वह वेश्या फिर उठ आई और बहुत समय तक फिर जागती रही लेकिन फिर भी कोई न आया तब उस वेश्या ने अपने चित्त में बड़ी ग्लानि मानी और कहा कि "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्" आशा बड़े दुःख देती है और नैराश्य में बड़ा भारी सुख है ऐसा बिचार कर उस वेश्याने उसदिन से लेके आशा त्यागदी और परम सुख को प्राप्त हुई इसही तरह जो मनुष्य आशा को त्यागैंगे वह परम सुख को प्राप्त होंगे।

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखीसर्पवत् ॥ १२ ॥

अर्थ—गृहादिकों के बिना बनाये भी पराये घर में सुख पूर्वक रह सकता है। जैसे कि सांप पराये घर में सुख पूर्वक वास करता है

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानम् षट्पदवत्॥१३॥

अर्थ-बहुत से शास्त्रों से और गुरुओं से सार वस्तु जो बिवेक का साधन है उस ही को लेना चाहिये जैसे कि भौंरा फूलों का जो सार मधु है उसको ग्रहण करता है इस ही तरह सार का लेना योग्य है।

इषुकारवनैकचित्तस्य समाधि हानिः ॥ १४ ॥

अर्थ-जिस का मन एकाग्र रहता है उसकी समाधि में किसी समय किसी प्रकार की भी हानि नहीं होसकती दृष्टांत, कोई बाण बनाने वाला अपने स्थलपर बैठाहुआ बाण बना रहा था उसही समय उसकी बगल होकर फौज सहित राजा

निकलगया लेकिन न मालूम हुआ कौन चलागया और उसके काम में भी किसी प्रकार की बाधा न हुई क्योंकि उसका मन अपने काम में आसक्त था ।

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यंलोकवत् ॥ १५ ॥

अर्थ--शौच, आचार आदि जो नियम विवेक की सिद्धि के वास्ते माने गये हैं। उन के लंघन से अर्थात् ठीक तौर से न पालने पर अनर्थ होता है और उन नियमों का फिर कुछ भी फल नहीं होता जैसे कि रोगी के वास्ते वैद्य ने परहेज़ बताया वास्ते नफे के, लेकिन उसने कुछ परहेज़ न करा तब उस को कुछ फल अच्छा न होगा किन्तु रोग बुद्धि को ही प्राप्त होगा।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।। १६ ॥

अर्थ-तत्व ज्ञान के भूलने से दुःख प्राप्त होता है दृष्टांत, कोई राजा शिकार खेलने के वास्ते वनको गया था वहां पर वह राजा दिव्य स्वरूपा एक कन्या को देखताहुआ उस कन्या को देखकर राजा मोहित होगया और बोला कन्ये ! तुम कौन हो ! वह बोली राजन् में भेकराज (मेंढकों के राजा) की कन्या हूं तब राजा अपनी स्त्री होने के वास्ते उससे प्रार्थना करनेलगा तब वह कन्या बोली राजन् ! अगर मुझ को जल का दर्शन हो जायगा तब ही में तेरा साथ छोड़ दूंगी इस वास्ते मुझको जल का दर्शन न होना चाहिये यह मेरा नियम पालन करना होगा राजा ने प्रसन्न हो इस बात को ग्रहण कर लिया एक समय वह दोनों आनन्द में आसक्तथे तब वह कन्या राजा से बोली कहीं जल है तब राजा उस बात को भूलकर उसको जल दिखा देते हुवे जल के दर्शन समय ही वह कन्या उस रूप को छोड़कर जल में प्रवेश करजाती हुई । तब राजा ने दुःखित होकर उस कन्या को बहुत, जल के अन्दर देखा लेकिन वह

फिर न प्राप्त हुई जैसे कि यह राजा उस तत्व बात को भूलकर दुःख को प्राप्त हुवे इसही तरह मनुष्य भी तत्व ज्ञान के भूलने से दुःख को प्राप्त होता है ।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

अर्थ—उपदेशके सुनने ही मात्र से कृतकृत्यता नहीं होती जबतक कि उस का विचार न किया जाय । दृष्टान्त, बृहस्पति जी ने विरोचन और इन्द्र इन दोनों को सत्योपदेश किया था इन्द्र ने उस उपदेश को सुनकर विचारा भी लेकिन विरोचनने न विचारा किन्तु कान ही पवित्र थे ।

दृष्टस्तयो रिन्द्रस्य ॥ १८ ॥

अर्थ-देखने में आता है कि उस श्रवण से इन्द्र को ही विवेक ज्ञान हुआ विरोचन को नहीं क्योंकि इन्द्र ने तो उस उपदेश का विचार कियाथा ।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥ १६ ॥

अर्थ—गुरु से नम्र रहना, सदा गुरु की सेवा करना, ब्रह्मचर्य को धारण करना, और वेद पढ़ने के वास्ते गुरु के पास जाना इन्हीं कर्मों के करने से बिवेक की सिद्धि हो जाती है जसे कि इन्द्र को हुई थी ।

न कालनियमो वामदेववत् ॥ २० ॥

अर्थ-इतने दिनों में विवेक पैदा होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि बामदेव नाम वाले ऋषि को पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण थोड़े ही दिनों में बिवेक पैदा होगया था ।

अध्यस्तरूपोपासनात पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव २१

अर्थ—शरीर ही आत्मा है, वा मन ही आत्मा है इस

प्रकार का अध्याहार करके जो उपासना करी जाती है उसके परंपरा संबन्ध से विवेक होता है जैसे पहिले पुत्र को आत्मा माना पीछे शरीर को उस के पश्चात इन्द्रियों को इसही प्रकार करते करते आत्मविवेक हो जाता है जैसे कि यज्ञ करने वालों की परम्परा संबन्ध से मुक्ति होती है। क्योंकि यज्ञ करने से चित्त शुद्धि होती है। और चित्त शुद्धि से वासनाओंकी न्यूनता आदि परम्परा से मुक्ति होती है इसही प्रकार अध्यस्त उपासना से भी जानना चाहिये।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः॥२२॥

अर्थ—यदि पंचाग्नि योग से इतर अर्थात् शांति का लाभ भी करलिया तो भी कर्मों की वासना बलवती बनी रहैगी अतएव वह कर्म फिर भी उत्तरोत्तर उत्पन्न होते जांयगे इसही बात को श्रुतियां भी प्रतिपादन करती हैं वह श्रुतियां छान्दोग्य उपनिषद् के पंचम प्रपाठक के आदि में हैं यहां विस्तार के भय से उन को नहीं लिखा है।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादनं हंसक्षीरवत्॥२३॥

अर्थ—जो विरक्त है अर्थात् जिसको विवेक होगया है उस को हेय (छोड़ने योग्य) का तो त्याग और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का ग्रहण करनाचाहिये। हेय, अर्थात् छोड़ने योग्य संसार है उपादेय, ग्रहण करने लायक मुक्ति है। जैसे कि हंस जल को छोड़कर दूध पीलेते हैं इसही तरहविरक्त को भी करना चाहिये।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत्॥२४॥

अर्थ—अथवा जो ज्ञान की पराकाष्ठा (हद) को प्राप्त होगया है यदि उसका संग होजाय तो भी पहिले कहे हुवे हंस के समान विवेकी हो सकता है।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत्॥२५॥

अर्थ–राग के नाश होजाने पर भी कामचारित्व (इच्छाधीन) न होना चाहिये, कारण यहहै कि फिर बंधन में पड़ने का भय प्राप्त हो सकता है। दृष्टान्त, जैसे कि कोई तोता दाने के लालच में होकर बंधन में पड़गया था जब उस को मौका मिला तब वह उस बंधन में से भाग गया फिर उस बंधन के धोरे भी भय के मारे नहीं आता है क्योंकि अगर इसके पास जाऊंगा तो फिर बंधन को प्राप्त होऊंगा। इस ही पक्ष की और भी पुष्टि करेंगे।

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥ २६॥

अर्थ–जब कामचारी रहेगा तब उस के गुणों में किसी की प्रीति हो जायगी तौभी उस विवेकी को फिर बद्ध होना पड़ेगा जैसे कि मनोहर भाषण (बोलना) आदि गुणों से तोते का बंधन होजाता है।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

अर्थ—भोगों को पूर्ण रूप से भोगने सेभी राग की शान्ति नहीं होती जैसे सौभरि नाम वाले मुनि ने भोगों को खूब अच्छी तरह भोगा लेकिन उससे कुछ भी शान्ति न हुई। और मृत्यु के समय उन महात्मा ने ऐसा कहा भी है कि–

आमृत्युतो नैवमनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि।

अर्थ—आज मुझ को इस बात का पूरा २ निश्चय होगया कि मृत्युतक मनोरथों का अन्त नहीं है और जो चित्त मनोरथों में लगा हुआ है उसमें विज्ञान का उदय कभी नहीं होता।

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के दोष इन दोनों के देखने से रागी को शान्ति होती है और जिसका चित्त राग

द्वेष इत्यादिकों से युक्त है उसको उपदेश फल का देने वाला नहीं होता।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २६ ॥

अर्थ—रागादिकों से मलिन चित्त में उपदेश रूप ज्ञान वृक्षका बीज नहीं जमता राजा अजके समान, राजा अज की इन्दु मती स्त्री थी उस स्त्री से राजा का बड़ा भारी प्रेम था काल वश होकर वह इन्दुमती मृत्यु को प्राप्त होगई राजा अज उसके वियोग से बड़ा भारी दुःखी हुआ उसका हृदय स्त्री के वियोग से परम मलिन होगया था वसिष्ठ जी ने तो उपदेश भी किया लेकिन वियोग मलिन हृदयमें उपदेशका अंकुर न जमा।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ॥ ३० ॥

अर्थ—मलिन हृदय में उपदेश का आभास मात्र भी नहीं पड़ता जैसे कि मैले शीशे में प्रतिविम्ब (अक्स) नहीं दीखता।

न तज्जस्यापि तद्रूपता पंकजवत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मोक्ष भी प्रकृति के ही सहारे से होता है। से होता है। परन्तु जसे प्रकृतिसे संसार पैदा हुआ है और वह उसी प्रकृति का रूप समझा जाता है वैसे मोक्ष प्रकृति का रूप नहीं होसकता क्योंकि जैसे पंक (कीच) से उत्पन्न हुआ कमल कीच के रूप का नहीं होता, वैसे प्रकृति से पैदा हुआ मोक्ष प्रकृति रूप नहीं हो सकता है।

न भूतियोगऽपि कृतकृत्यतोपास्यासिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—ऊहादि विभूतियों के मिलने पर भी कृतकृत्यता नहीं होती क्योंकि जैसा उपास्य (जिसकी उपासना की जातीहै) होगा वैसी ही उपासक को सिद्धि प्राप्त होगी। अर्थात् जो धनवान् की उपासना करा जाता है तो धन मिलता है और दरिद्री

की उपासना करनेसे कुछ भी नहीं मिलतता इसही प्रकार ऊहा आदि सिद्धियां नाश होने वाली हैं इस वास्ते उनकी प्राप्ति से कृतकृत्यता नहीं हो सकती। सिद्धिवत् सिद्धिवत् ऐसा जो दो दफे कहना है सो अध्याय की समाप्ति का जताने वाला है।

इतिसांख्यदर्शने चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ सांख्यदर्शने ।

पंचमोऽध्यायारम्भः

महर्षि कपिल जी ने अपने शास्त्र का सिद्धांत मुक्ति के साधनों के सम्बंध में पहिले चार अध्यायों में विस्तार पूर्वक वर्णन करा अब इस अध्याय में वादी प्रतिवादीरूप से जो शास्त्र में सूक्ष्मता पूर्वक कहीहुई बातें हैं उनका प्रकाश करेंगे। कोई वादी शंका करता है कि मंगलाचरण करना फजूल है इस विषय को हेतु गर्भित वाक्यों से प्रतिपादन करते हैं।

मंगलाचरणम् शिष्टाचारात् फल दर्शनात् श्रुति-तश्चेति ॥ १ ॥

अर्थ—मंगलाचरण करना जरूर ही चाहिये। क्योंकि शिष्टजनों का यही आचार है और प्रत्यक्ष में भी यही फल दीखता है। जो उत्तम आचरण करता है वोही सुख भोगता है। अहरहः संध्यामुपासीत, अहरहोऽग्निहोत्रम् जुहुयात्, रोज संध्या करनी चाहिये, रोज २ अग्निहोत्र करना चाहिये, इत्यादि श्रुतियां भी अच्छे ही आचरणों को कहती हैं। बहुतेरे

मनुष्य मंगलाचरण का यह अर्थ समझते हैं कि जब किसी नये ग्रन्थ की रचना करी जाय तब उस ग्रन्थ के शुरू करने में किसी उत्तम शब्द का लिख देना उसको मंगलाचरण कहते हैं ऐसा समझना ठीक नहीं क्योंकि पहिले तो मंगलाचरण का वैसा अर्थ नहीं होसकता दूसरे यदि ग्रंथके आदि में मंगल किया तो अन्यत्र अमंगल होगा, तीसरे कादम्बर्यादि ग्रन्थों में मंगल के होनेपर भी उनकी निर्विघ्न समाप्तिनहीं हुई इस वास्ते ऐसा मानना किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं इस विषय को मुक्तसिर तौर से लिखा है इसका विस्तार बहुत है और ग्रन्थों में कर्म का फल अपने आप होता है इस पक्ष का खण्डन करते हैं।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः॥२॥

अर्थ-केवल ईश्वर का नाम लेने से अर्थात् मङ्गलाचरण से फल नहीं मिल सकता किन्तु उसका हेतु कर्म है; जिसके होने से ईश्वर फल देता है यदि कहो बिना कर्म के ईश्वर फल देता है।

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—जैसे कि संसारमें दीखता है कि पुरुष अपने उपकार के वास्ते कर्मों का फल देनेवाला एक अलाहिदा नियुक्त करता है इसही तरह ईश्वर भी सब के कर्म फल देने के वास्ते एक अधिष्ठान है।

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥ ४ ॥

अर्थ-यदि ईश्वर को सब कर्मोंका फल देने वाला न माना जाय तो लौकिक ईश्वरों की तरह अलाहिदा २ कर्मों के फल देनेवाले अलाहिदा २ ईश्वर मानने पड़ेंगे जैसे कि संसार में जज कलक्टर इत्यादिक अलाहिदा २ कर्मों के फल देने वाले अलाहिदा २ ईश्वर हैं। लेकिन इन लौकिक ईश्वरों में भ्रम

प्रमाद इत्यादिक दोष दीखते हैं यही दोष उस ईश्वर में भी

दीख पड़ेंगे। इस वास्ते ऐसा मानना योग्य नहीं कि कर्म का फल ईश्वर नहीं देता।

पारिभाषिको वा ॥ ४ ॥

अर्थ—कर्म का फल अपने आप होता है ऐसा मानने से एक दोष और भी प्राप्त होताहै वह दोष यह है कि ईश्वर सिर्फ नाम मात्र ही रह जायगा क्योंकि कर्मों का फल तो आपही हो जाता है फिर ईश्वर की क्या अपेक्षा रही। और ईश्वर के नाम मात्र ही रहजाने में यह भी दोष होगा कि वर्तमान् (मौजूद) इस संसार की सिद्धि भी न हो सकैगी।

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥ ६॥

अर्थ—ईश्वर सृष्टि की सिद्धि में प्रतिनियत कारण है उसके बिना सिर्फ राग से अर्थात् प्रकृति महदादिकों से संसार की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—ईश्वर जीव रूपधारी प्रकृति का संगी है और उस में प्रकृति के संयोग होने से रागादिक भी हैं।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—तुम्हारा यह कथन योग्य (ठीक) नहीं क्योंकि ईश्वर नित्य मुक्त न रहैगा अर्थात् जैसे जीव प्रकृति के संगी होने से अनित्य मुक्त है इस ही तरह ईश्वर को भी मानना पड़ेगा। और जो लोग इस तरह ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी संसार के जीवों के समान अनित्य मुक्त होगा। यदि ऐसा कहा जावे कि ईश्वर से संसार बना है अर्थात् ईश्वर उपादान कारण है सो भी ठीक नहीं।

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि ईश्वर को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में संगापत्ति होजाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में संगत हुई है वैसे ईश्वर भी स्थूल होजाय इस वास्ते

ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं होसकता किन्तु निमित्त कारण है।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—अगर चेतन से जगत् की उत्पत्ति है तो जिस प्रकार परमेश्वर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त है इस ही तरह सब संसार भी सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिये लेकिन संसार में यह बात नहीं दीखती इस हेतु से भी परमेश्वर जगत् का उपादान कारण सिद्ध नहीं होता किंतु निमित्त कारण ही सिद्ध होता है और भी पुष्टिकारक इस विषय का यह सूत्र है।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ १० ॥

अर्थ—ईश्वर संसार का उपादान कारण है इस में कोई प्रमाण नहीं है इस वास्ते उसकी सिद्धि नहीं होसकती।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जब कि ईश्वर का संसार से उपादान कारण रूप सम्बन्ध ही नहीं है तब ऐसा अनुमान करना कि ईश्वर ही से जगत् उत्पन्न हुआ है व्यर्थ है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥ १२ ।

अर्थ—जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही है इस बात को श्रुतियां भी कहती हैं "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः" यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वाक्य है इसका अर्थ यह है कि जो जन्म रहित सत्व, रज, तमोगुण रूप प्रकृति है वोही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप होजाती है अर्थात् परिणामिनी होने से अवस्थान्तर होजाती है और ईश्वर अपरिणामी और असंगी है। कोई २ ऐसा मानतेहैं कि ईश्वर को अविद्या संग होने से बन्धनमें पड़ना पड़ता है और उसी के योग से संसार [illegible] हैं।

नाविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—ईश्वर निःसंग है इस वास्ते उस ईश्वरको अविद्या शक्ति का योग नहीं हो सकता।

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—यदि अविद्या के योग से संसार की सिद्धि मानी जाय तो अन्योन्याश्रयत्व दोष प्राप्त होता क्योंकि बिना ईश्वर के अविद्या संसार को नहीं कर सकती और ईश्वर विना अविद्या के संसार नहीं बना सकता यही दोष हुआ। यदि अविद्या और ईश्वर इन दोनों को एक कालिक (एक समय में होने वाले) अनादि मानें जैसे कि बीज और अंकुर को मानते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि :—

न बीजांकुरवत् सादिश्रुतेः ॥ १५ ॥

अर्थ—बीज और अंकुर के समान अविद्या और ईश्वर को मानें तो यह दोष प्राप्त होताहै "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" हे सौम्य ! पहिले यह जगत् सत् ही था, एक ही अद्वितीय ईश्वर है इत्यादि श्रुतियां एक ही ईश्वर का प्रतिपादन करती हैं और जगत् को सादि और ईश्वरको अद्वितीय कहती हैं अगर उसके साथ अविद्या का झगड़ा लगाया जावै तो उक्त श्रुतियों में विरोध हो जायगा यदि ऐसा कहा जाय कि हमारी अविद्या योग शास्त्र की सी नहीं है किन्तु जैसी आपके मतमें प्रकृतिहै वैसीही हमारा मत अविद्या में है तो यह मत भी ठीक नहीं है।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि विद्या से अतिरिक्त (दूसरे) पदार्थ का नाम अविद्या है अर्थात् विद्या का नाश करने वाली अविद्या है तो ब्रह्म का भी ज़रूर नाश करेगा क्योंकि वह भी विद्यामय है।

और इस सूत्र का दूसरा यह भी अर्थ है। यदि अविद्या विद्या रूप ब्रह्म से अतिरिक्त है और उसको विविध (अनेक प्रकार के) परिच्छेद रहित ब्रह्म में माना जाता और अविद्या ब्रह्म से अन्य अर्थात् दूसरा है और अविद्या ब्रह्म से अन्य है तो ब्रह्म के रहित तत्व में बाधा पड़ेगी इस वास्ते ऐसा मानना ठीक नहीं है।

प्रश्न—अविद्या का किसी किसी से बाध हो सकता है या नहीं ? इसका ही विचार करते हैं—

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उस अविद्या का अगर किसी से बाध नहीं होसकता तो मुक्ति आदि विद्या प्राप्ति का उपाय करना निष्फल है।

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि विद्या से अविद्या का बाध होजाता है तो अविद्या से पैदा हुवे जगत् का भी बाध होना चाहिये।

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि अविद्या को जगत् रूप मानें अर्थात् जगत् ही अविद्या है तो अविद्या में सादिपना आया जाता है क्योंकि जगत् सादि है। इस वास्ते अविद्या कोई वस्तु नहीं है उसी बुद्धि वृत्ति का नाम अविद्या है जो महर्षि पातञ्जलि ने कही है। और इस विषयमें यह भी विचार होताहै कि जब कपिलाचार्य के मत में सम्पूर्ण कार्यों की विचित्रता का हेतु प्रकृति है और वो ही प्रकृति सुख दुःखादिक का हेतु है तो धर्म्माधर्म के मानने की क्या ज़रूरत है। अब इसही पर विचार करके धर्म की सिद्धि करते हैं।

न धर्म्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से धर्म का अपलाप (दूर होना) नहीं हो सकता क्योंकि

श्रुतिलिंगादिभिस्तत्सिद्धिः ॥ २१ ॥

अर्थ—उसकी सिद्धि श्रुति और योगियों के प्रत्यक्ष से होसकती है "पुण्यो वै पुण्येन भवति पापः पापेन" पुण्य निश्चय करके पुण्य से होता है और यह भी निश्चय है कि पाप पापसे ही पैदा होता है। इत्यादि श्रुतियां भी धर्म के फल को कहती हैं इस वास्ते धर्म का अपलाप नहीं होसकता।

प्रश्न—धर्म में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है इस वास्ते उस की सिद्धि नहीं हो सकती।

उत्तर—न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥

अर्थ—धर्म की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो, यह कोई नियम नहीं है क्योंकि इसमें अनेक प्रमाणहैं और प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय और प्रमाणों से भी पदार्थ की सिद्धि होती हैं।

प्रश्न—धर्म की तो सिद्धि इस तरह कर ली गई लेकिन अधर्म की तो सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं हो सकती।

उत्तर—उभयत्राप्येवम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जैसे धर्म की सिद्धि में प्रमाण पाये जाते हैं इस ही तरह अधर्म की सिद्धि में भी प्रमाण पाये जाते हैं।

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥

अर्थ—वेदादि सत् शास्त्रों में जिस बात की विधि पाई जाती है वही धर्म है और इस के सिवाय अधर्म है यदि इस प्रकार की अर्थापत्ति निकाली जाय तौ भी ठीक नहीं क्यों कि श्रुति आदिकों में जिस प्रकार धर्म की विधियों का वर्णन है उस ही प्रकार अधर्मका निषेध भीहै जैसे "परदारं न गच्छेत्" पराई स्त्री के समीप गमन न करै इस तरह के [illegible] धर्माधर्म दोनों के विषय में ही निषेध और विधि रूप से बराबर पाये जाते हैं।

प्रश्न—यदि धर्मादि को आप मानते हैं तो पुरुष को धर्म वाला मानकर पुरुष में परिणामित्व प्राप्त होता है।

उत्तर—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—धर्मादिक अन्तःकरण के धर्म हैं अर्थात् इन धर्मादिकों का सम्बन्ध अन्तःकरण से है जीव से नहीं है और इस सूत्र में जो आदि शब्द है उसके कहने से वैशेषिक शास्त्र के आचार्यों ने जो आत्मा के विशेष गुण माने हैं उनका ही ग्रहण माना गया है अर्थात् वोही आत्माके विशेष गुण माने गयेहैं। प्रलयावस्था में तो अन्तःकरण रहता ही नहीं तब धर्मादिक कहां रहते हैं ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये। कारण यहहै कि आकाश के समान अन्तःकरण भी नाश रहित है अर्थात् अन्तःकरण का नाश सिवाय मुक्ति के कदापि नहीं होता और बात को पहिले कह भी आये हैं कि अन्तःकरण कार्यकारण भाव दोनों रूप को धारण करता है। इस से अन्तःकरण रूप जो प्रकृति का अंश विशेष है उस में धर्म अधर्म दोनों के संस्कार रहते हैं। इस बात को ही किसी कवि ने भी कहा है कि धर्म नित्य है और सुख दुःखादि सब अनित्य हैं। इस विषय में यह संदेह भी पैदा होता है कि प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से जो धर्म अधर्म आदि की सिद्धि करी गई है वह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति तो त्रिगुणात्मक अर्थात् रजोगुण, तमोगुण, सत्वगुण इनसे युक्त है और उस के कार्यों का बाध इन श्रुतियों से साफ साफ मालूम पड़ता है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" घट पट आदि सब कहने मात्र को ही हैं सिर्फ मृत्तिका (मिट्टी) ही सत्य है। इस वास्ते प्रकृति को गुण मानना ठीक नहीं इस पक्ष के खण्डन के वास्ते यह सूत्र है:—

गुणादीनां च नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥

अर्थ—गुण जो सत्वादिक अर्थात् सत्व रज तम उन के धर्म जो सुखादिक और उनके कार्य जो महदादिक हैं उनका स्वरूप से बाध नहीं है अर्थात् स्वरूप से नाश नहीं होता किन्तु संसर्ग से बाध होता है। जैसे आग के संसर्ग (मेल) से जल की स्वाभाविक शीतलता का बाध होजाता है परन्तु उस के स्वरूप का बाध नहीं होता इस ही तरह प्रकृति के गुणों का भी बाध नहीं होता।

पंचावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥ २७ ॥

अर्थ-सुखादि पदार्थों की सिद्धि पंचावयव वाक्य से होती है जिस तरह न्याय शास्त्र में मानी गई है इस कारण जब सुख आदि की सिद्धि न्यायशास्त्र के अनुसार मान ली जाती है तब उनका स्वरूप से नाश भी नहीं माना जासकता क्यों कि जो पदार्थ सत् है उसका नाश नहीं होसकता। और उस पंचावयव वाक्य से सुखादि की संवित्ति इस तरह होती है कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांचों को सुख इस तरह लगाना चाहिये कि सुखसत है इस का नाम प्रतिज्ञा है,प्रयोजनक्रियाकारीहोनेसेइसका नाम हेतु है। जैसे चेतन प्रयोजन की क्रियाओं का कर्त्ता है उसही तरह यह भी इसका नामदृष्टान्तहै। पुलकित (रुओं का खड़ा होना) आदि प्रयोजन की कि सुखमेंहै इसकानाम उपनयहै। इस वास्ते वहसच्चाहै यह निगमन है यहां सिर्फ सुख का ग्रहण करना नाम मात्रहीहै। इसही तरह और गुणों का स्वरूप से नाश नहीं होता इस जगह आचार्य ने न्याय का विषय इस वास्ते वर्णन करा है कि इन पांच तत्वों के बिना किसी झूंठे सच्चे पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकता और जो इस पंचावयव से सिद्ध नहीं होसकता उसमें अनुमान करना भी ठीक नहीं और एक नास्तिक जो कि प्रत्यक्ष के सिवाय और प्रमाणों को नहीं मानता और इस पंचावयव के मुख्य सिद्धान्त व्यक्ति का खण्डन करने के आशय

को इस २८ वें सूत्र से उसमें दोष और अनुमान को असंगत बतलाता है।

न सकृद्ग्रहणात्सम्बन्धासिद्धिः ॥ २८ ॥

अर्थ—जहां धुआं होगा वहां अग्नि भी होगी। इस साहचर्य के स्वीकार (मानने) से व्याप्तिरूपी सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती क्योंकि आग में धुआं सदा नहीं रहता और जो मानस (रसोई के स्थान) का दृष्टान्त दिया जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि किसी जगह अग्नि और घोड़ा इन दोनों को किसी आदमी ने देखा अब दूसरी जगह उसको घोड़ा नज़र पड़ा तब वह ऐसा अनुमान नहीं करसकता कि यहां अग्नि भी होगी क्योंकि घोड़ा दीखता है। ऐसाही अग्नि और घोड़ा मैंने वहां भी देखा था, बस इस पूर्व पक्ष से नैयायिक जैसा अनुमान करते हैं वह अयुक्त सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष को ही माननेवाले चार्वाक नास्तिक के मत की पुष्टि हुई इसका यह उत्तर है:—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२६॥

अर्थ—जिन दो पदार्थों का व्याप्यव्यापकभाव होता है उन दोनों पदार्थों में से एक का अथवा दोनों का जो नियत धर्म है उसके साहित्य (साथ रहने का नियम) होनेको व्याप्ति कहते हैं। विशेष व्याख्या इस तरह है कि जैसे पहाड़ पर आग है क्योंकि धुआं दीखता है। जहां२ धुआं होता है वहीं२ आग भी जरूर होती है इसका नाम ही व्याप्ति है। इस में यह जानना चाहिये कि धुआं विना आग के नहीं रह सकता है परन्तु आग विना धुएं के रह सकती है इस से सिद्ध हुआ कि धुएं का आग के साथ रहना नियतधर्मसाहित्य हुआ। चार्वाक ने जो अग्नि घोड़े का दृष्टान्त देकर व्याप्ति का खण्डन किया था वह भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि घोड़ा तो सैकड़ों जगह विना अग्नि के दीखने में आता है और आग को

बिना घोड़े के देखते हैं इस वास्ते साहचर्य नहीं रहा इस वास्ते वह सब अयुक्त सिद्ध होगया। अब रहा दोनों का नियत धर्मसाहित्य यह गंध और पृथिवी में मिलता है अर्थात् जहां पृथिवी होगी वहां गंध ज़रूर होगा और जहां गन्ध होगा वहां पृथिवी भी अवश्य होगी इन दोनों में से बिना एक के एक नहीं रह सकता है॥

न तत्वान्तरम् वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः॥ ३०॥

अर्थ—पहिले सूत्र में जो व्याप्ति का लक्षण कियागया है उसके सिवाय किसी और पदार्थ का नाम व्याप्ति नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार अनेक तरह की व्याप्ति मानने में एक नया पदार्थ कल्पना करना पड़ेगा इसवास्ते व्याप्ति का वोही लक्षण ठीक है जो पहिले सूत्र में किया है॥

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः॥ ३१॥

अर्थ—जो व्याप्य की शक्ति से उत्पन्न किसी विशेष शक्ति का रूप हो वही व्याप्ति आचार्योंके मतमें मानने लायकहै। इस सूत्र का आशय इस दृष्टांत से समझना चाहिये कि व्याप्य जो अग्नि है उसकी ही शक्ति से धुआं पैदा होता है और वह आग की किसी विशेष शक्ति का रूप है। इस ही तरह के पदार्थ को व्याप्ति कहते हैं। और जिस में यह बात नहीं है वह व्याप्ति किसी प्रकार नहीं होसकती।

प्रश्न—धुआं आग की शक्ति से पैदा नहीं होता है गीले ईंधन की शक्ति से पैदा होता है।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है यदि गीले ईंधन में ऐसी शक्ति है तो वायु (हवा) के संयोग होने से ईंधन में से धुआं क्यों नहीं पैदा होता परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता इससे यह बात माननी पड़ेगी कि धुआं अग्नि की शक्ति विशेष है।

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः॥ ३२॥

अर्थ—आधार में जो आधेय शक्ति रहती है उसको ही पंचशिख नाम वाले आचार्य व्याप्ति मानते हैं। इसका आशय भी इस दृष्टांत से समझ लेना चाहिये कि आधार जो आग है उस में आधेय जो धुआं उसके रहने की जो शक्ति है उसको व्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न—जब आग में धुआं नहीं दीखता है तब उसमें व्याप्ति का नाश होजाता है क्या ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि, धुएं का आविर्भावतिरोभाव होता रहता है अर्थात् धुआं कभी पैदा होता है कभी उसी के भीतर लय होजाता है किन्तु आग से धुआं नाश नहीं होता है इस वास्ते व्याप्ति का नाश नहीं होसकता इसको पहले अध्याय में विस्तार पूर्वक कह आये हैं।

प्रश्न—आधार में आधेयशक्तिमत्व क्यों कल्पना किया जाता है, आधार की स्वरूप शक्ति को ही व्याप्ति क्यों नहीं मानते ?

उ० न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—व्याप्य (आधार) की स्वरूप शक्ति को नियम अर्थात् व्याप्ति नहीं मान सकते क्योंकि उस में फिर झगड़ा पड़ने का भय है। उस झगड़े को लिखते हैं कि जिस का भय है।

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥ ३४ ॥

अर्थ—विशेषण देना व्यर्थ होजायगा जैसे कहागया है कि बहुत धुएं वाली आग है, इस वाक्य में बहुत शब्द विशेषण है और धुआं विशेष्य है इस ही तरह धुआं आधेय है और आग आधार है। यदि धुएं को अग्नि की स्वरूप शक्ति मान लें तो बहुत शब्द को क्या मानें क्योंकि उस बहुत शब्द को अग्नि की स्वरूप शक्ति नहीं मान सकते और उस वाक्य के

साथ होने से वह शब्द अपना कुछ अर्थ भी जरूर रखता है एवं उस अर्थ से स्वरूप शक्ति में न्यूनाधिकता (कमती बढ़ती) भी जरूर हो जाती है तो उसको भी कुछ न कुछ अवश्य मानना चाहिये। यदि न माना जायगा तो उसका उच्चारण करना व्यर्थ हुआ जाता है और महात्माओं के अक्षर व्यर्थ नहीं होते।

और भी दूसरा झगड़ा प्राप्त होता है कि—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे कि पत्तों का आधार पेड़ है और व्याप्ति का लक्षण स्वरूप शक्ति मानकर वृक्षकी शक्तिस्वरूप जो पत्ते हैं वो ही व्याप्ति के कहने से ग्रहण होसकते हैं। इसप्रकार मानने में यह दोष रहेगा कि जैसे वृक्ष की स्वरूपशक्ति पत्तों को मानलिया और वही व्याप्ति भी होगई तो पत्तों के टूटने पर व्याप्ति का भी नाश मानना पड़ेगा यदि व्याप्ति का नाश माना जायगा तो बड़ा भारी झगड़ा पैदा होजायगा और प्रत्यक्षवादी चार्वाक नास्तिक का मत पुष्ट होजायगा इस वास्ते ऐसा न मानना चाहिये कि आधार की स्वरूपशक्ति का ही नाम व्याप्ति है। अब इस बात का निश्चय करते हैं कि आचार्य और पंचशिख नामक आचार्य के मत में भेद है या नहीं ? क्योंकि पंचशिख नाम वाला आचार्य तो आधार (आग) में आधेय (धुवें) की शक्ति होने को व्याप्ति मानता है। और आचार्य मुनि कपिल जी व्याप्य आग को शक्ति से पैदा हुवे किसी शक्ति विशेष को दूसरा पदार्थ मानकर उसको व्याप्ति मानते हैं इन दोनों में से कौन ठीक है।

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—समानन्याय अर्थात् बराबर युक्ति होने से जैसे कि आधेय शक्ति की सिद्धि होती है वैसे ही निजशक्ति योग

की, यह आचार्यों का मत भी ठीक है। दोनों में से कोई भी युक्ति हीन नहीं मानते हैं। यह व्याप्ति का झगड़ा सिर्फ इस ही वास्ते पैदा किया गया था कि गुण आदि स्वरूप से नाशवान् नहीं है इस पक्ष को पुष्टि करने के वास्ते आचार्य को अनुमान प्रमाण की आवश्यकता हुई और वह अनुमान प्रमाण पंचावयव के बिना नहीं होसकता था इस वास्ते उनको लिखना पड़ा इसी निश्चय में पंचावयव के अन्तर्गत एक साहचर्य नियम जिसका दूसरा नाम व्याप्ति है आन पड़ा उसको प्रकाश करने के वास्ते यह कहकर अपने पक्ष को पुष्टकर लिया। अब इससे आगे पंचावयव रूप शब्द को ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु सिद्ध करने के वास्ते शब्द की शक्तियों का प्रकाश करके उस शब्द प्रमाण में बाधा डालने वालों के मत का खण्डन करते हैं।

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ-शब्द के अर्थ में वाच्यताशक्ति रहती है और शब्द में वाचकताशक्ति रहा करती है इसको ही शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध कहते हैं। अर्थात् शब्द अर्थ को कहा करता हैं और अर्थ शब्द में कहा जाता है यही इन शब्दार्थों का सम्बन्ध है। उस वाच्यवाचकता रूप शक्ति को कहते हैं।

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥ ३८ ॥

अर्थ-पहिले कहे हुवे सम्बन्ध की सिद्धि तीन तरह से होती है एक तो आप्त (पूर्ण विद्वान्) के उपदेश से दूसरे वृद्धों के व्यवहार से तीसरे संसारमें जो प्रसिद्ध वर्ताव में आनेवाले पद हैं उनके देखने से इनही तीन तरह के शब्दों का वाच्यवाचकभाव होता है। उसको इस तरह समझना चाहिये कि आप्तों के द्वारा ऐसे शब्दों का ज्ञान होता है जैसे ईश्वर निराकार सत् चित् आनन्द स्वरूप है जब ईश्वर शब्द कहा

जावैगा तब पूर्वोक्त (पहिले कहे हुवे) विशेषण वाले पदार्थ का ज्ञान होगा और वृद्धों के व्यवहार से यह मालूम होता है कि जिसके सास्ना (गौ के कन्धों के नीचे जो लंबी सी खाल लटकती है) और लांगूल (पूंछ) होती है उसको गौ कहते हैं ऐसा ज्ञान हो जानेपर जब जब गौ शब्द का उच्चारण होगा तब उस ही अर्थ का ज्ञान होजायगा और प्रसिद्ध शब्दों का व्यवहार इस तरह है कि जैसे कपित्थ एक पेड़ का नाम है वह क्यों कपित्थ शब्द से प्रसिद्ध है ? इस प्रकार का तर्क न करना चाहिये क्योंकि लोक प्रसिद्ध होने के कारण कपित्थ शब्द कहने से कपित्थ (कैथ) का ही ग्रहण होता है ।

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह कोई नियम नहीं है कि शब्दशक्ति का वाच्य वाचक भाव कार्य में ही हो और जगह नहीं क्योंकि दोनों तरह शब्द की शक्तियों का ग्रहण दीखता है शास्त्रों में जैसे किसी वृद्ध ने किसी बालक से कहा 'गौ को लाओ' इस वाक्य के कहने से गौ का लाना यह कार्य दीखता है और तेरे पुत्र पैदा होगया इसमें कार्य का प्रत्यक्ष भाव नहीं दीखाई पड़ता है । क्योंकि पुत्र का पैदा होना यह जो क्रियाहै वह पहिले ही हो चुकी और यह वाक्य उस बीती हुई क्रिया को कहता है इस वास्ते यह नियम नहीं कि कार्य में ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध हो ।

प्रश्न—यह उपरोक्त प्रतीति लौकिक बातों में होसकती है क्योंकि संसार में बहुधा कार्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है किन्तु वेद में जो शब्द हैं उन के अर्थ का ज्ञान कैसे होता है ? क्योंकि शब्द कार्य नहीं है ।

उत्तर—लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सांसारिक कार्यों में चतुर होते हैं वोही वेद को यथार्थ रीति से जान सकते हैं क्योंकि ऐसा कोई भी

लोक का हितकारी कार्य नहीं है जो वेद में न हो इस वास्ते वेद में विज्ञता पैदा करने के अर्थ सांसारिक जीवों की योग्यता प्राप्त करनी चाहिये और शब्दों की शक्ति लोक (संसार) और वेद इन दोनों में बराबर है। इस विषय पर नास्तिक शंका करते हैं—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ४१

अर्थ—आपने जो तीन प्रमाण दिये उन प्रमाणों से वेद के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य मनुष्य की बात बात को समझ सकता है परन्तु वेद अपौरुषेय (जो किसी मनुष्य का बनाया हुआ न हो) है इस वास्ते उसका अर्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता है क्योंकि वह वेद अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है। इसका समाधान करने के वास्ते पहिले इस बात को सिद्ध करते हैं कि वेदों का अर्थ प्रत्यक्ष देखने में आता है अतीन्द्रिय नहीं है।

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

अर्थ—वेद के अर्थ को जो अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियों से) न जाना जाय) कहा सो ठीक नहीं, वेद से जो यज्ञादि किये जाते हैं और उन यज्ञादिकों में जो जो काम करे जाते हैं वे सब स्वरूप से ही धर्म हैं क्योंकि यज्ञादिकों का फल प्रत्यक्ष में दीखता है जैसा कि "यज्ञाद्भवतिपर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः" यज्ञ से मेघ होता है और मेघ के होने से अन्न पैदा होता है इत्यादि वाक्य गीता में मिलते हैं।

प्रश्न—जब कि वेद अपौरुषेय है तब उनका अर्थ कैसे ज्ञात होता है ?

उत्तर—निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥

अर्थ—शब्द का अर्थ यह होना शब्द की स्वाभाविकी शक्ति है और विद्वानों की परम्परा से यह शक्ति वेद के अथ

में भी चली आती है और उस ही व्युत्पत्ति (वाख़फ़ियत) से वृद्ध लोग शिष्यों को उपदेश करते चले आये हैं कि इस शब्द का ऐसा अर्थ है और जो ऐसा कहते हैं कि वेदों का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है उसका यह समाधान है।

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः॥४४॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि जिन २ कार्यों को वेद ने अच्छा कहा है और हिंसादि जिन २ कार्यों को बुरा कहा है उनकी प्रतीति प्रत्यक्षता में दीखती है अर्थात् इन दोनों कार्यों का जैसा फल वेद में लिखा है वैसाही देखने में आता है इस से इस बातकी सिद्धि होगई कि वेद का अर्थ अतीन्द्रिय नहीं है।

प्रश्न—न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः॥४५॥

अर्थ—वेद नित्य नहीं हैं क्योंकि श्रुतियों से मालूम होता है कि "तस्माद्यज्ञात्सर्व हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" उस यज्ञरूप परमात्मासे ऋग्वेद सामवेद उत्पन्न हुवे इत्यादि श्रुतियां पुकार पुकार कह रही हैं कि वेद पैदा हुवे जब ऐसा सिद्ध होगया तो यह बात निश्चय ही है कि जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश भी ज़रूर है इस वास्ते वेद कार्य रूप होने से नित्य नहीं हो सकते हैं।

उत्तर—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥४६॥

अर्थ—वेद किसी पुरुष के बनाये हुये नहीं हैं क्योंकि उनका बनाने वाला दीखता नहीं तब यह बात माननी पड़ेगी कि वेद अपौरुषेय हैं जब कि वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्ध हो गया तो वह जिसके बनाये हुवे वेद हैं नित्य हैं और नित्य के कार्य भी नित्य होते हैं इस कारण वेदों का नित्यत्व सिद्ध होगया यदि ऐसा कहा जावै कि वेदों को भी किसी जीव ने बनाया होगा सो भी ठीक नहीं।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ ४७ ॥

अर्थ-जीव भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो मुक्त दूसरे अमुक्त यह दोनों प्रकार के जीव वेद के बनाने के अधिकारी नहीं है, कारण यह है कि मुक्त जीव में वह शक्ति नहीं रहती जिससे वेद बना सकें और वद्ध जीव अपनी अल्पज्ञ (थोड़ा जानने वाला) इत्यादि दोषों से युक्त होता है और वेद में इस तरह की बातें देखने में आती हैं जो बिना सर्वज्ञ के नहीं हो सकतीं और जीव अल्पज्ञ है इस प्रमाण से भी वेदोंकी नित्यता सिद्ध होगई। इसही विषय को और भी दृढ़ करते हैं।

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वेद अपौरुषेय है इस वास्ते नित्य है ऐसा नहीं क्योंकि अंकुर किसी पुरुष का बनाया हुआ नहीं होता परन्तु अनित्य होता है।

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादि प्रसक्तिः ॥ ४९ ॥

अर्थ-यदि वेदों को भी बनाया हुआ माना जायगा तो प्रत्यक्ष जो दीखता है उस में दोष प्राप्त होगा। दृष्टान्त-जैसे कि अंकुर का लगाने वाला दीखता है और उपादान कारण जो बीज है वह भी दीखता है। इस प्रकार वेदों का बनाने वाला और उपादान कारण नहीं दीखता है इस कारण नित्य हैं यदि नित्य न माना जाय तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जायगा। वेदों को जो अपौरुषेय कहा है उसमें यह सन्देह होता है कि पौरुषेय किसको कहते हैं और अपौरुषेय किस को कहते हैं? इस सन्देह को दूर करने के लिये पौरुषेय का लक्षण लिखतेहैं

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ५०

अर्थ—जिस पदार्थ का कर्त्ता प्रत्यक्ष न हो अर्थात् बनाने वाला न दीखता हो लेकिन उस पदार्थ के देखने से यह ज्ञान

हो कि इस का बनाने वाला कोई ज़रूर है इसका ही नाम पौरुषेय है। लेकिन वेदों के देखने से यह बुद्धि पैदा नहीं होती क्योंकि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से मानी गई है और उन वेदों का बनाने वाला कोई नहीं है और उत्पत्ति, बनाना इन दोनों में इतना अन्तर है कि बीज से अंकुर पैदा हुआ, कुम्हार ने घड़े को बनाया, इस बात को बुद्धिमान् अपने आप विचारलेवें कि उत्पत्ति और बनाना इस में भेद है या नहीं ? बनाना कोई और बात है, उत्पत्ति कोई और बात है। इस तरह ही वेदों की उत्पत्ति मानी गई है किन्तु घटादि पदार्थों के समान वेदों की उत्पत्ति नहीं है इस कारण वेद अपौरुषेय हैं।

प्रश्न—जब कि वेदों में उनही बातों का वर्णन है जो संसार में वर्त्तमान है तो वेदों को क्यों प्रमाण माना जाय।

उत्तर—निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रमाणयम् ५१.

अर्थ—जिस वेद के ज्ञान होने से अर्थात् जाननेसे आयुर्वेद (वैद्यक) कला कौशल आदि सब तरह की विद्याओं का प्रकाश होता है वह वेद स्वतः (अपने आप प्रमाण होकर) प्रमाण है उस में दूसरे प्रमाण की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि जो आपही दूसरों का प्रमाण किसको कह सकते हैं। जैसे सेर दुसेरी आदि तोलने को बांट तोलने में आपही प्रमाण हैं लेकिन सेर दुसेरी आदि बाट क्यों प्रमाण हैं ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता क्योंकि वह तो स्वतः प्रमाण हैं इसही तरह वेदों को भी स्वतः प्रमाण समझना चाहिये पहिले जो ४१व सूत्रमें नास्तिक ने यह पूर्व पक्ष करा था कि वेदों का अर्थ नहीं हो सकता, उस का उत्तरपक्ष वहां पर कहआये थे और फिर भी उस को ही दृष्टान्त द्वारा साबित करते हैं॥

नासतः ख्यानँ नृश्रृङ्गवत ॥ ५२ ॥

अर्थ—जैसे कि पुरुष के सींग नहीं होते इस ही तरह जो

पदार्थ है ही नहीं उसका कहना भी व्यर्थ है जैसे कि बन्ध्या स्त्री का पुत्र । जब कि बन्ध्या स्त्री के पुत्र होता ही नहीं तो ऐसा कहना भी व्यर्थ है । यदि इस तरह वेदों का भी कुछ अर्थ न होता तो वृद्ध लोग परम्परा से (एक को एक ने पढ़ाया) क्यों शिष्यों को पढ़ा कर प्रसिद्ध करते । इस से साबित होता है कि वेदों का अर्थ है ।

न सतोबाधदर्शनात् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ सत् है उस का बाध किसी तरह नहीं हो सकता और वेद सत् माने गये हैं इस वास्ते ऐसी कहना नहीं बनसकता कि वेदार्थ नहीं है ।

प्रश्न—वेदार्थ है या नहीं ऐसा झगड़ा क्यों किया जाय ? यही न कह दिया जावे कि वेद का अर्थ है तो, परन्तु अनिर्वचनीय है ।

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—वेद के अर्थ को अनिर्वचनीय (जो कहने में न आवै) कहना ठीक नहीं क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दीखता जो अनिर्वचनीय हो और उस ही पदार्थ को कहसकते हैं जो संसार में मौजूद है इस लिये अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं है ।

नान्यथाख्यातिःस्ववचोव्याघातात् ॥५५॥

अर्थ—अन्यथा ख्याति भी नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा कहने पर अपने ही कथन में दोष प्राप्त होता है । इस सूत्र का अभिप्राय (मतलब) यह है कि वेद का अर्थ दूसरा है परन्तु संसार में दूसरी तरह प्रचलित होरहा है इस तरह की अन्यथा ख्याति करने पर यह दोष होता है कि जो मनुष्य वेद का अर्थ ही न मान कर अनिर्वचनीय कहते हैं वह अन्यथाख्याति को

क्यों मान सकते हैं ऐसा कहना उनके वचन से ही विरुद्ध होगा ।

प्रश्न—अन्यथा ख्याति किसको कहते हैं ।

उत्तर—पदार्थ तो दूसरा हो और अर्थ दूसरी तरह किया जाय, जैसे सीप में चांदी का आरोप करना अर्थात् चांदी साबित करनी ।

सदसतख्यातिर्बाधाबाधात् ॥ ५६ ॥

अर्थ-यदि ऐसा माना जाय कि वेदों का अर्थ है भी और नहीं भी है क्योंकि जो संसार के कार्यों में चतुर नहीं हैं उन को वेद के अर्थ का बाध होता है और जो सांसारिक कार्यों में चतुर हैं उनको अबाध होता है इस तरह स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, है या नहीं इस तरह जैनों के मत के अनुसार ही माना जाय तो भी ठीक नहीं । इस सूत्र में पहिले सत्र से नकार की अनुवृत्ति आती है । "नासतः ख्यानम् नृशृंगवत्" इस सूत्र से लेकर ५६ वें सूत्र तक जो अर्थ विज्ञानभिक्षु ने किया है और गुणादीनानात्यन्तबाधः" इस सूत्र के आशय से मिलाया है वह ठीक नहीं, क्योंकि वैसा अर्थ करने से प्रसंग में विरोध आता है । दूसरे यह कि इस ५६ वें सूत्र को जो कपिल मुनि के सिद्धान्त पक्ष में रखकर गुणों का बाध अबाध दोनों ही माने हैं वह ठीक नहीं क्योंकि "न तादृक् पदार्थाप्रतीतेः" इस सूत्र में आचार्य पहिले ही कह चुके हैं कि असत् और सत् इन दोनों धर्मों वाला कोई पदार्थ संसार में नहीं दीखता तो क्या आचार्य भी विज्ञान भिक्षु के समान ज्ञान रहित थे जो अपने पूर्वापर कथन को ध्यान में न रखकर गुणों को सत् और असत् दोनों रूपों से कहते, यहां तक वेदों की उत्पत्ति और नित्यता को सिद्धकर चुके । अब शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं ।

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शब्द मुख से निकलता है उस शब्द के सिवाय जो उस शब्द में अर्थ के ज्ञान कराने वाली शक्ति है उसे स्फोट कहते हैं। जैसे कि किसी ने कलश शब्द को कहा तो उस कलश शब्द के उच्चारण होंने से कम्बुग्रीवादि कपालों का जिस शक्ति से ज्ञान होता है उसका ही नाम स्फोट है। इससे ऐसा न समझना चाहिये कि कलश इतना शब्द मुख से निकलते ही कम्बुग्रीवा वाला जो पदार्थ है उसका ही नाम कलश है किन्तु जिस शक्ति से उसका ज्ञान होता है उसी का नाम स्फोट कहलाता है किन्तु स्फोटात्मक शब्द नहीं होसकता क्योंकि इस में दो तरह के तर्क पैदा हो सकते हैं कि शब्द की प्रतीत होती है या नहीं, यदि प्रतीत होती है तो जिस अर्थ वाले अक्षर समुदाय से पूर्वापर मिला कर अर्थ प्रतीत और वाच्य (कहने लायक) वस्तु का बोध (ज्ञान) है उसके सिवाय स्फोट को मानना व्यर्थ है क्योंकि शब्द से ही अर्थ ज्ञान हुआ, स्फोट से नहीं। और यह कहो कि शब्द की प्रतीति नहीं होती तब अर्थ ही नहीं। फिर स्फोट में ऐसी शक्ति कहां से आई जो बगैर अर्थ के अर्थ की प्रतीति करासकै इस कारण स्फोट का मानना व्यर्थ है।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—शब्द नित्य नहीं होसकता क्योंकि उच्चारण के बाद शब्द नष्ट होजाता है जैसे कि ककार उत्पन्न हुआ उच्चारणावसान में फिर नष्ट होगया इत्यादि अनुभवों से सिद्ध होता है कि शब्द भी कार्य है।

पूर्वसिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनैव घटस्य ॥ ५९ ॥

अर्थ—जिस शब्द का होना पहिले ही से सिद्ध है उस शब्द का उच्चारण करने से प्रकाश होता है उसको उत्पत्ति

नहीं होती है। दृष्टान्त जैसे कि अन्धेरे स्थान में रक्खे हुये पात्र को दीपक प्रकाश करदेता है ऐसा नहीं कह सकते कि दिये ने पात्र को पैदाकर दिया क्योंकि पात्र तो पहिले से ही वहां मौजूद था अन्धकार के कारण उसका ज्ञान (मालूम होना) नहीं होता था। इसही तरह शब्द भी पहले से सिद्ध है उच्चारण करने से केवल उनका प्रकाश होता है, इस लिये शब्द नित्य है।

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम् ॥ ६० ॥

अर्थ–यदि ऐसा कहा जाय कि कार्य जिस अवस्था में दीखता है उस ही अवस्था में सत् है शेष और अवस्थाओं में असत् है इसही तरह शब्द का भी कार्य है और अपनी अवस्था में सत् है, ऐसा मानेंगे तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा मानने पर हम शब्द के सम्बन्ध में सिद्ध साधन मानेंगे अर्थात् जो शब्द पहिले हृदय में था उसको उच्चारण आदि क्रियाओं से स्पष्ट किया है किन्तु घटादि पदार्थों के समान बनाया नहीं है। यहां तक शब्द विचार समाप्त हुआ। अब इस विषय का विचार करेंगे कि जीव एक है वा अनेक हैं।

नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जीव एक नहीं है किंतु अनेक हैं इस सूत्र का यह भी अर्थ है। जीव और ईश्वर इन दोनों का अभेद मानकर जो अद्वैत माना जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि जीव के जो अल्पज्ञत्वादि चिन्ह हैं और ईश्वर के जो सर्वज्ञत्वादि चिन्ह हैं उन से दोनोंमें भेद ज्ञात (मालूम) होता है।

नानात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२ ॥

अर्थ—अनात्म जो सुख दुःखादिकों के भोग हैं उन से भी यही बात सिद्ध होती है कि जीव एक नहीं है क्योंकि एक

मानने से प्रत्यक्ष में विरोध की प्राप्ति होती है और संसार में दीखता भी है कि सुख दुःख अनेक व्यक्ति एक समय में भोग करते हैं। दूसरे पक्ष में ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जो मनुष्य एक आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं मानते उनके सिद्धान्त में पूर्वोक्त दोष के सिवाय और एक दोष यह भी प्राप्त होजायगा कि घटादि कार्य्यों को भी आत्मा मानकर उनके नाश होते ही आत्मा का भी नाश मानना होगा। यह प्रत्यक्ष से विरोध होगा इस लिये ऐसा अद्वैत मानना ठीक नहीं है।

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

अर्थ–आत्मा और अनात्मा इन दोनों की एकता है ऐसा कहना भी योग्य नहीं क्योंकि उसी प्रत्यक्ष प्रमाण में बाधा प्राप्त होजायगी और संसार में यह बात साफ २ दीख रही है कि आत्मा और अनात्मा दो पदार्थ जुदे २ हैं इस वास्ते ऐसा कहना कि एक आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है, योग्य नहीं।

प्रश्न—अगर तुम ऐसा मानते हो कि आत्मा और अनात्मा जुदे २ पदार्थ हैं तो श्रुतियां ऐसा क्यों कहती हैं कि "एकमेवाद्वितीयंब्रह्म" "आत्मैवेदम् सर्वम्" (एकही ब्रह्म अद्वितीय है) (यह सब आत्मा ही है) इत्यादि श्रुतियां एक आत्मा बताती हैं तो बहुत से आत्मा वा जीव ब्रह्म पृथक् २ क्यों माने जांय।

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४ ॥

अर्थ–इन श्रुतियों में अन्य परत्व अर्थात् अद्वैत है ऐसा ज्ञान अज्ञों को होता है और जो विद्वान हैं वह इन श्रुतियों का ऐसा अर्थ नहीं करते हैं क्योंकि अद्वितीय शब्द से यह प्रयोजन है कि ईश्वर के समान दूसरा और कोई नहीं है और जो एक आत्मा मानते हैं उनके मत में संसार का उपादान कारण ठीक नहीं होसकता।

नात्माविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ॥ ६५ ॥

अर्थ–इस कारण आत्मा जगत् का उपादान कारण नहीं होसकता कि वह निर्विकार है। यदि अविद्या को संसार का उपादान कारण मानें तो अविद्या भी संसार का उपादान कारण नहीं होसकती क्योंकि सत् मानें तो द्वैतापत्ति प्राप्त होती है और असत् माननेपर बन्ध्या के पुत्र के सदृश (समान) अभाव वाली होजायगी और आत्मा तथा अविद्या यह दोनों मिलकर संसार का उपादान कारण इस प्रकार नहीं होसकते कि आत्मा संग रहित है इस वास्ते ही जो एक आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं मानते उनके मत में संसार का उपादान कारण सिद्ध नहीं होसकता है।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥

अर्थ–वेदादि सत् शास्त्र ईश्वर को सच्चिदानन्द कहकर पुकार रहे हैं और जीव में आनन्दरूप होना नहीं है इसवास्ते ईश्वर और जीव इन दोनों में भेद है।

प्रश्न—जीव में आनन्द तो माना ही नहीं गया है तो मुक्ति का उपदेश क्यों कहा, क्योंकि मुक्ति अवस्था में दुःखों के दूर होजाने पर आनन्द होता ही है॥

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥

अर्थ–मुक्ति होने पर दुःख दूर होजाते है ऐसा कहना गौण है यद्यपि मुक्ति होने पर दुःख दूर होजाते हैं परन्तु अल्पज्ञता तो जीव में उस समय भी बनी रहती है इस लिये फिर भी दुःख पैदा होने का भय बनाही रहता है इस कारण जीव सर्वदा आनन्द में नहीं रहता है अतः जीव को आनन्दस्वरूप नहीं कह सकते। आनन्द स्वरूप तो ईश्वरको ही कह सकते है।

प्रश्न—जब कि आप की मुक्ति ऐसी है कि जिसके होने पर भी फिर कुछ दिनों के बाद दुःख पैदा होने की संभावना बनी रहती है तो ऐसी मुक्ति से बद्धरहना ही अच्छा है।

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—विमुक्त (बद्धरहना) की प्रशंसा मूर्ख लोग करते हैं न कि विद्वान् लोग। कोई २ मन को नित्य मानते हैं उन के मत का भी खंडन करते हैं ॥

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—मन व्यापक नहीं है क्योंकि मन को इन्द्रिय और कारण माना है।

प्रश्न—कारण किस को कहते हैं ॥

उत्तर—जिस के द्वारा जो अपने कार्य करने में तैयार हो, जैसे कि मन के द्वारा जीवात्मा अपने कार्यों को करता है ॥

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥

अर्थ—मन क्रिया वाला है इस लिये मन हरएक इन्द्रियों के व्यापार और प्रवृत्ति का हेतु है गतिवाला भी है ॥

प्रश्न—यदि मन को नित्य नयी मानते तो मत मानो लेकिन निर्विभाग, कारण रहित तो मानना होगा ॥

न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जैसे घट आदि पदार्थ मृत्तिका (मिट्टी) के कार्य हैं इसही तरह मन भी किसी का कार्य अवश्य है। जब कि कार्य निश्चय होगया तो उसको कारण योग भी अवश्य होगा।

प्रश्न—मन नित्य है या अनित्य ?।

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुषके अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं वह सब अनित्य हैं इस कारण से मन भी अनित्यहै ॥

प्रश्न—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही नित्य क्यों माना है ?।

नभागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

अर्थ-जो आप ही कारणरूप है उसका और कोई कारण नहीं होसकता उस को तो सब ही कारणरहित मानते चले आये हैं इसकारण प्रकृति पुरुष दोनों नित्य हैं।

प्रश्न-पुरुषकी मुक्ति क्यों मानी गई है।

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥

अर्थ-प्रधान जो प्रकृति है उसको आनन्द की अभिव्यक्ति (ज्ञान) नहीं हो सकती इस कारण उसकी मुक्ति भी नहीं कह सकते। क्योंकि आनन्द प्रधान का धर्म नहीं है किन्तु जीव का है।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत ॥ ७५ ॥

अर्थ—सत्व रज तम इन के नाश होने को ही यदि मुक्ति माना जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि उक्त सत्वादि तीन गुण प्रधान के स्वाभाविक धर्म हैं उनका नाश होना प्रधान का धर्म नहीं है इस लिये उसकी मुक्ति नहीं मानी जाती।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि विशेष गति ऊपर नीचे का जाना आना अर्थात् ब्रह्म लोक की प्राप्ति इत्यादिक को ही मुक्ति मानें सोभी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रधान तो निष्क्रिय अर्थात् क्रियाशून्य है जो कुछ उस में क्रिया दीखती है वह सब पुरुष के संसर्ग (मेल) से है परन्तु आप ऐसी शक्ति को नहीं रखता।

नकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

अर्थ—यदि आकार के सम्बन्ध को छोड़ देना ही मुक्ति मानें सो भी ठीक नहीं, क्योंकि उस में क्षणिकत्वादि दोष प्राप्त होते हैं। इस सूत्र का स्पष्टार्थ यह है-प्रकृति का आकार घड़ा है उसका जो फूट जाना है उसको ही प्रकृति की मुक्ति मानी जाय सो यह कथन कुछ अच्छा नहीं है क्योंकि क्षणिक-

इत्यादि सैंकड़ों दोष प्राप्त हो जायगे, ऐसा मानने से ? जैसे कि कोई घड़ा इस क्षण में टूट गया और फिर इसी क्षण में दूसरा बनगया तो इत्यादि कारणों से प्रधान की मुक्ति कैसे हो सकती है ?

न सर्वोच्छित्तिः पुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—सब को छोड़ देना भी मोक्ष नहीं होसकता। यदि प्रधान सम्पूर्ण (सब) सृष्टि आदिकी रचना को छोड़दे तो भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान के सब कार्य पुरुष के लिये हैं।

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

अर्थ-यदि सब को छोड़ देना ही प्रधान की तो मुक्ति का लक्षण मान भी लिया जाय तो वह मुक्ति शून्य रहैगी क्योंकि आनन्द न रहेगा तो व्यर्थ है इस लिये ऐसा न माना जाय।

प्रश्न--पुरुष के साथ रहने वाली प्रकृति किसी स्थान में पुरुष को छोड़ दे, इस को ही मुक्ति क्यों न माना जाय ?।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशा-
दिलाभोऽपि ॥ ८० ॥

जिस का संयोग होता है उस का वियोग तो निश्चय ही होगा फिर किसी स्थान में जाकर छोड़ा तो क्या मुक्ति हो सकती है ? किसी सूरत में नहीं। इस ही तरह जब प्रकृति और पुरुष का संयोग है तो वियोग भी जरूर होगा फिर उस में देश की क्या जरूरत है क्योंकि स्थान के प्राप्त होने से मुक्ति तो हो ही नहीं सकती।

न भागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥

अर्थ—प्रधान के भाग (अंश) जो महत्तत्वादिक हैं उन का भागी (प्रधान) में मिल जाना ही मुक्ति है। सो भी नहीं हो सकता क्योंकि वह तो उस में मिलते ही हैं।

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥ ८२ ॥

अर्थ—पुरुष के योग से अणिमादि ऐश्वर्यों का योग होना भी प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि जिस का योग है उसका वियोग तो अवश्य ही होगा। जैसाकि दूसरे पदार्थों में मालूम होता है।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपितद्वत् ॥ ८३ ॥

अर्थ—पुरुष के संयोग से इंद्रादि पद की प्राप्ति का होना प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब नाशवान् हैं अब "अहंकारिकत्वश्रुतेर्नभौतिकानि" इस सूत्र में जो बात सूक्ष्म रीति से कही है उसको कहते हैं।

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ८४

अर्थ-जो बात पृथिवी आदि भूतों में मौजूद है वह बात इन्द्रियों में नहीं दीख ती इस वास्ते इन्द्रियों को भौतिक नहीं कह सकते किन्तु अहंकार से पैदा हुई हैं।

प्रश्न—सांख्य के मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष का ज्ञान होना ही मुक्ति का हेतु है किन्तु वैशेषिकादिकों ने जो छः पदार्थ माने हैं उनके ज्ञान से मुक्ति क्यों नहीं हो सकती।

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

अर्थ—पदार्थ छः ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं। किन्तु पदार्थ असंख्य (सैंकड़ों) है अभाव जानने के वास्ते असंख्य पदार्थ हैं तो छः पदार्थों के जानने से मुक्ति नहीं हो सकती।

षोडशादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—गोतमादिकों ने जो १६ सोलह पदार्थ माने हैं और जिन जिन महर्षियों ने २५ पच्चीस पदार्थ माने हैं उनके जान लेने से भी मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थ तो असंख्य हैं।

प्रश्न—वैशेषिकादिकों का मत क्यों दूषित माना गया है क्योंकि वह वैशेषिकादिक पृथिवी आदि के अगुणों को नित्य मानते हैं।

उत्तर—नाणुनित्यतातत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पृथिवी आदि के अणुओं की नित्यता किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियां उनको कार्य रूप कहती हैं और एक युक्ति भी है। जब पृथिवी आदि साकार हैं तो उन के अणु भी साकार हो सकते हैं। जब साकारता प्राप्त हो गई तो किसी के कार्य भी ज़रूर हुये इस कारण पृथिवी आदि के अणुओं को नित्य नहीं कह सकते। यहां अणु का अर्थ परमाणु नहीं, उससे स्थूल है।

प्रश्न—आप अणुओं को नित्य नहीं मानते तो मत मानो लेकिन उनका कोई कारण नहीं दीखता इस वास्ते उनको कारण रहित मानना चाहिये।

उत्तर—न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥ ८८ ॥

अर्थ—जब कि अणु कार्य हैं तो कारण रहित कैसे हो सकते हैं क्योंकि जो कार्य है उसका कारण भी ज़रूर ही कोई न कोई होगा।

प्रश्न—जब कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही आकार रहित हैं तो उनका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। क्योंकि जब तक रूप न होगा तब तक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

उत्तर—न रूपनिबन्धात् प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥

अर्थ—रूप के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता यह कोई नियम नहीं है क्योंकि जो बाहर की वस्तु है उस के देखने के वास्ते अवश्यमेव इन्द्रिय से योग की ज़रूरत रहती है। लेकिन जो ज्ञान से जाना जाता है उस को रूपवान होने की कोई ज़रूरत

नहीं है और नास्तिक लोग जो यह बात कहते हैं कि साकार पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होता है निराकार का नहीं होता यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जब नेत्र आदि इन्द्रियों में दोष हो जाता है तब सामने रक्खे हुये घटपटादि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता इससे साबित होता है कि पदार्थ का स्वरूप होना प्रत्यक्ष होनेमें नियम नहीं, किन्तु इन्द्रियोंकी स्वच्छताही हेतु है।

प्रश्न—आपने जो अणुओं को कार्यरूप कहकर अनित्य सिद्ध किया तो क्या अणु कोई वस्तु आपके मत में है या नहीं? इस पर आचार्य अपना मत दिखाते हैं।

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्॥ ९० ॥

अर्थ-जो मनुष्य अणु महत् दीर्घ ह्रस्व यह चार भेद मान कर परिमाण चार तरह के मानते हैं ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने को चार प्रकार के परिमाण मानते हैं वह बात अणु और महत् इन दो तरह के परिमाणों से भी सिद्ध हो सकती है दीर्घ और ह्रस्व यह दो परिमाण महत् परिमाण के अवान्तर (भीतर रहने वाले) भेद हैं यदि गिनती बढ़ानी ही स्वीकार है तो एक तिरछा अणु, एक सीधा अणु, ऐसे ही बहुत से भेद हो सकते हैं लेकिन ऐसा होना ठीक नहीं। और हमने जो अणुओं को अनित्य प्रतिपादन किया था वह सिर्फ पृथिवी आदि के गुण को अनित्य कहा था किन्तु अणु परिमाण द्रव्यों को अनित्य नहीं प्रतिपादन किया था क्योंकि हम भी तो अणु नित्य मानते हैं॥

प्रश्न-जब प्रकृति और पुरुष के सिवाय सब को अनित्य कहा तो प्रत्यभिज्ञा किस तरह हो सकती है क्योंकि जब सब पदार्थों को नाशवान् मान लेंगे तब प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण पहले अध्याय में कहआये हैं।

उ०-अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात्
प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ६१ ॥

अर्थ-यद्यपि प्रकृति और पुरुष के सिवाय जितने सामान्य पदार्थ हैं वे सब ही अनित्य हैं तथापि हम उन को स्थिर मानते हैं लेकिन क्षणिक वादियों के समान हरएक क्षण में परिवर्तन (लौटना अर्थात् उलट फेर) शील नहीं मानते हैं इस वास्ते प्रत्यभिज्ञा होसकती है ॥

न तदपलापस्तस्मात् ॥ ६२ ॥

अर्थ-अतएव सामान्य पदार्थ कुछ न रहा ऐसा नहीं कहा जासक्ता । किन्तु ऐसा कहा जासकता है कि सामान्य पदार्थ नित्य नहीं है ।

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ६३ ॥

अर्थ—सामान्य पदार्थों को अनित्य नहीं कहसकते हैं। क्योंकि उनकी मौजूदगी दीखती है आशय यह है कि जब आचार्य प्रकृति और पुरुष के सिवाय सब को अनित्य मानते हैं तो प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? इस शंका को दूरकरने के वास्ते यह सूत्र कहागया है कि सामान्य पदार्थ किसी प्रकार अनित्य नहीं होसकते हैं क्योंकि वे भी दीखते हैं ।

प्रश्न—प्रत्यभिज्ञा के वास्ते जो समान्य पदार्थों को स्थिर माना गया है उन को स्थिर मानने की क्या जरूरत है? क्योंकि जिस पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा होती है उस तरह के दूसरे पदार्थ में भी प्रत्यभिज्ञा होसकती है जैसे कि किसी वक्त में घड़े को देखा था कुछ दिनों के बाद उसी सूरत का एक घड़ा और देखा उस में भी यही बात घटसकती है कि जो घड़ा पहले देखा था वोही यह है क्योंकि घड़े तो दोनों एक ही सूरत के हैं ।

न तत्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ६४ ॥

अर्थ-एक घड़े के समान दूसरा घड़ा प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं होसकता क्यों कि यह बात तो प्रत्यक्ष ही से दीखती है कि जो घड़ा पहिले देखा था उसमें और जो अब देखा है इस में फर्क है। इस लिये सदृश (समान) पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं है इस कारण सामान्य पदार्थ और उनकी स्थिरता माननी पड़ेगी।

प्रश्न—जो शक्ति पहिले देखे हुवे घड़े में है वही शक्ति इस समय दीखते हुवे घड़े में है उस शक्ति के ही प्रकाश होने से प्रत्यभिज्ञा क्यों न मानी जाय क्योंकि सब घड़े एक ही शक्ति वाले होते हैं इस वास्ते दूसरे घड़े के देखने से प्रत्यभिज्ञाको मानना ही चाहिये।

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ६५

अर्थ-घटादि पदार्थों की शक्ति का प्रकाश होना प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं होसकता क्योंकि यह बात तो अर्थापत्ति से सिद्ध है। यदि सब घड़ों में समान (बराबर) शक्ति न होती तो उनका घड़ा नाम क्यों होता ? इस वास्ते समान आकृति और समान शक्ति प्रत्यभिज्ञाका हेतु नहीं होसकती। किन्तु वही पदार्थ जो पहले देखा है वही दूसरी बार के देखने से प्रत्यभिज्ञा का हेतु हो सकता है इस बात से सिद्ध होगया कि सामान्य पदार्थ अनित्य होने पर भी स्थिर हैं और इसी से प्रत्यभिज्ञा भी होती है।

प्रश्न-एक घड़े में जो संज्ञा (नाम) संज्ञी (नामवाला) सम्बन्ध है वोही सम्बन्ध दूसरे घड़े में भी है, फिर उस में प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं होती ?

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ६६ ॥

अर्थ-संज्ञासंज्ञी का सम्बन्ध भी प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं हो-

सकता क्योंकि यह भी अर्थापत्ति से जाना जासकता है कि संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध सब घड़ों में बराबर है। परन्तु इतने पर भी अनेक घड़ों में अनेक भेद रहते हैं इस कारण प्रत्यभिज्ञा नहीं होसकती। और संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध होनेपर भी दूसरा पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का हेतु नहीं होसकता क्योंकि।

न संबंधनित्यतोभयानित्यत्वात् ॥ ६७ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थों का सम्बन्ध नित्य नहीं है। क्योंकि संज्ञा और संज्ञी यह दोनों अनित्य हैं। तात्पर्य यह है कि जो घड़ा घट नाम से पुकारा जाता था उस घड़े के नाश होते ही उसकी संज्ञा का भी नाश होजाता है क्योंकि उस घड़े के टूटने पर उसको फिर घड़ा नहीं कह सकते हैं किंतु कपाल (ठीकड़ा) कह सकते हैं। जबकि फिर दूसरा घड़ा नज़र आया तो उसकी दूसरी घट संज्ञा हुई दूसरी घट संज्ञा के होने से समता कहां रही जब समता ही नहीं है तो प्रत्यभिज्ञा कैसी ? क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा उसी पदार्थ में होती है जिसको कभी पहिले देखा हो और जो घड़ा पहिले देखा था उसका तो नाश होगया जिसको अब देख रहे हैं वह दूसरा है तो वह पहिले देखा हुआ नहीं हो सकता इसी से प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—सम्बन्धी अनित्य हो परन्तु सम्बन्ध तो नित्य ही मानना चाहिये।

नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥६८॥

अर्थ—जबकि संज्ञासंज्ञी दोनों ही अनित्य सिद्ध हुवे तो उनका सम्बन्ध कैसे नित्य होसकता है ? क्योंकि सम्बन्ध जिन प्रमाणों से सिद्ध होता है उनसे ऐसा कहना नहीं बनसकता कि सम्बन्धी चाहे अनित्य हो पर सम्बन्ध को नित्य मानना चाहिये। उत्तर यह है कि यह बात किसी प्रकार ठीक नहीं होसकती कि सम्बन्धी तो अनित्य हो और सम्बन्ध नित्य हो।

प्रश्न—गुण और गुणी का नित्य समवाय सम्बन्ध शास्त्रों से सुनाजाता है और वास्तव में वे दोनों अनित्य हैं यह कैसे ठीक होसकता है ?

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥ ९९ ॥

अर्थ—समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है प्रमाणके न होनेसे।

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥ १०० ॥

अर्थ—घड़ा मिट्टी से बना है वा बना होगा इन दोनों तरह के ज्ञानों में अन्यथा सिद्धि है इस वास्ते समवाय को मानने की कोई जरूरत नहीं। इस सूत्र का स्पष्ट भाव यह है कि घट का उपादान कारण मिट्टी है और यह बात प्रत्यक्ष दीखती है कि मिट्टी से ही घड़ा बनता है और अनुमान भी कियाजाता है इस प्रकार यह भी उक्त (कहे हुए) प्रमाणों से सिद्ध (साबित) हुआ कि बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता है इसलिये घट और मिट्टी का सम्बन्ध हुआ लेकिन समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—यदि समवाय सम्बन्ध न माना जाय तो दो कपालों का संयोग (मेल) घट की उत्पत्तिमें हेतु होता है। उसको क्या कहेंगे और इस बात को कैसे जानेंगे कि दो कपालों का संयोग घट की उत्पत्ति में हेतु है जिन दो अवयवों (टुकड़ोंके) मिलने से घड़ा बनता है उनको कपाल कहते हैं।

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरे वापरोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥

अर्थ—क्रिया और क्रिया वाले का संयोग होकर घट बनता है इस बात के जानने के लिये अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि धोरे रहने वाले कुम्हार की प्रत्यक्ष क्रिया को देखकर ही जान लेते हैं कि दो कपालों के मिलनेसे घट बनताहै इस लिये जब तक वह घड़ा मौजूद रहेगा तब तक

सम्बन्ध भी जरूर रहेगा इसके लिये समवाय सम्बन्धके मानने की कोई जरूरत नहीं है दूसरे अध्याय में यह मत भेद कहचुके कि शरीर पांच भौतिक है अब उन मतों की सत्यासत्यता दिखाते हैं कि वे मत सच्चे हैं या झूंठे।

न पांच भौतिकं शरीरम् बहूनामुपादाना योगात् ॥ १०२ ॥

अर्थ—शरीर पांचभौतिक नहीं है अर्थात् पृथिवी जल तेज वायु आकाश से शरीर की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि बहुत से पदार्थ एक उपादानके कारण (जो जिससे बने जैसे मिट्टी से घट बनता है) नहीं हो सकते इस कारण शरीर को सिर्फ पार्थिव (पृथिवी से बना हुआ) ही मानना चाहिये और जो अग्नि आदि चार भूत इसमें कहे जाते हैं वे सिर्फ नाम मात्र को ही हैं। कोई कोई स्थूल शरीर को ही मानते हैं उसका भी खंडन करते हैं।

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥ १०३ ॥

अर्थ—स्थूल शरीर ही है ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि आतिवाहिक अर्थात् लिंग शरीर भी मौजूद है यदि लिंग शरीर को न माना जाय तो स्थूल शरीर में गमनादि क्रिया भी नहीं हो सकती इस बात को तीसरे अध्याय में बिस्तार पूर्वक कर के कह आये हैं जैसे तेल बत्ती रूपसे उत्पन्न हुई दीप की शिखा सम्पूर्ण (सब घर का प्रकाश कर देती है इसही तरह लिंग शरीर भी स्थूल शरीर को अनेक व्यापारों में लगाता है। और इस बात को भी पहिले कह आये हैं कि इन्द्रियां गोलकों से अतिरिक्त हैं इस के साबित करने को ही इन्द्रियों की शक्ति कहते हैं।

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्व प्राप्तेर्वा ॥ १०४ ॥

अर्थ-जिस पदार्थ का इन्द्रियों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है उसको इन्द्रियां प्रकाश नहीं कर सकती यदि करसकतीं हैं तो देशान्तर (दूसरी जगह) में रक्खी हुई वस्तु का भी प्रकाश करना सिद्ध होजायगा परन्तु ऐसी बात न तो नेत्रों से देखी और न कानों से सुनी। इस सूत्र का स्पष्ट भाव यह है कि इन्द्रियां उस ही पदार्थका प्रकाश करसकती हैं जिस से उनका सम्बन्ध होता है सम्बन्ध रहित के प्रकाश करने में उनकी शक्ति नहीं है। यदि इन्द्रियोंमें यह शक्ति होती कि बिना सम्बन्ध वाले पदार्थ को भी प्रकाश करदिया करतीं तो देशान्तर के पदार्थ का भी प्रकाश करना कुछ मुशकिल न होता। और जब दूसरी जगह रक्खे हुवे पदार्थों का नेत्र आदि इन्द्रियों को ज्ञान होजाया करता कि वह वस्तु अमुक स्थान में रक्खी है तो उनको सर्वज्ञता प्राप्त हो सकती है इस लिये ईश्वर और इन्द्रियों में कुछ भेद नहीं होसकता क्योंकि ईश्वर भी सर्वज्ञ है और इन्द्रियां भी सर्वज्ञ हैं ऐसा ही कहने में आवैगा। इस कारण यही बात माननी ठीक है कि नेत्र आदि इन्द्रियां उस वस्तु का ही प्रकाश कर सकती हैं जो उनको दीखती है।

प्रश्न-अपसर्पण (फैलना) तेज का धर्म है और तेज पदार्थ का प्रकाश करता है इसही तरह नेत्र को भी तेज स्वरूप मानना चाहिये क्योंकि वह नेत्र भी पदार्थ का प्रकाश करता है।

उत्तर—न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्ति तस्तत्सिद्धेः ॥ १०५ ॥

अर्थ—निस्सन्देह तेज में फैलने की शक्ति है परन्तु इससे चक्षु (आंख) को तेज स्वरूप नहीं कहसकते। क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने के लिये नेत्र को तेज स्वरूप मानने की जरूरत है वह बात इस रीति से भी सिद्ध होसकती है कि जो नेत्र की वृत्ति है (जिससे कि पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है) उसी से पदार्थ का प्रत्यक्ष माना जाय।

प्राप्तार्थप्रकाशलिंगात् वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥

अर्थ—नेत्र का जिस पदार्थ से सम्बन्ध होता है उसको ही प्रकाश करता है इस से साफ २ सिद्ध होता है कि चक्षु की वृत्ति तेजस्वरूप है नेत्र तेजस्वरूप नहीं है।

प्रश्न—जब नेत्र का पदार्थ से सम्बन्ध होता है तब नेत्र की वृत्ति शरीर को बिना छोडे, उस पदार्थ पर कैसे जा पड़ती हैं।

उत्तर—भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरम् वृत्तिः संबंधार्थं सर्पतीति ॥ १०७ ॥

अर्थ-नेत्र आदि की वृत्ति पदार्थ के सम्बन्ध के वास्ते जाती है इस से नेत्र का (भाग) टुकडा वा रूप आदि गुण वृत्ति नहीं हैं किन्तु भाग और गुण इन दोनों से भिन्न (जुदा) एक तीसरे पदार्थ का नाम वृत्ति है। क्योंकि यदि चक्षु आदि के भाग का नाम वृत्ति होता तो एक २ पदार्थ का एक २ बार नेत्र से सम्बन्ध होनेपर सहज सहज नेत्र के टुकड़े होकर उस का नाश होजाना योग्य था और यदि गुण का ही नाम वृत्ति होता तो गुण जड़ होते हैं इस वास्ते वृत्ति का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ में चलाजाना नहीं होसकता था। अतः (इसकारण) भाग और गुण इन दोनोंसे वृत्ति भिन्न (जुदा) एक पदार्थ है।

प्रश्न—ऐसे लक्षणों के करने से वृत्ति एक द्रव्य सिद्ध

होता है तब इच्छा आदि जो बुद्धि के गुण हैं उनको वृत्ति क्यों माना है ? क्योंकि गुणों का नाम वृत्ति नहीं होसकता ।

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८ ॥

अर्थ—वृत्ति द्रव्य ही है यह नियम नहीं क्योंकि अनेक वाक्यों में ऐसे विषय पर भी वृति शब्द का व्यवहार देखने में आता है जहां पर द्रव्य का अर्थ नहीं हो सकता जैसे वैश्य वृत्ति शूद्र वृत्ति इत्यादि अतः हमने जिस विषय पर वृत्ति को द्रव्य माना है उस ही विषय पर द्रव्य है और जगह जैसा अर्थ हो वैसा ही करना चाहिये । इस बात को भी पहिले कह चुके हैं कि पांचभौतिक शरीर सिर्फ नाम मात्र ही है वास्तव में तो पर्थिव है । अब इस बात का विचार किया जाता है कि जिन इन्द्रियों के आश्रय से शरीर हैं वे इन्द्रियां जैसे कि हम लोगों की अहंकार से पैदा हैं वैसे ही और देशों के मनुष्यों की भी अहंकार से ही पैदा होती हैं पंचभूतों से नहीं पैदा होती हैं ।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानतास्मदादिवन्नियमः १०९

अर्थ-देश के भेद होने पर भी वस्तु का दूसरा उपादान नहीं होसकता क्योंकि जैसे हम लोग और और देशों में जाकर वास करने लगते हैं परन्तु इन्द्रियां नहीं बदलतीं वे ज्यों की त्यों रहती हैं हमारा देश ही तो पलट जाता है । यदि देशभेद ही इन्द्रियों के बदलने में वा और उपादान कारण करने में हेतु होता तो हम लोगों की इन्द्रियां भी वहां जाकर ज़रूर बदल जातीं लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियां पांचभौतिक नहीं किन्तु अहंकार से पैदा हैं ।

प्रश्न-जबकि इन्द्रियों की अहंकार से उत्पत्ति है तो उन को भौतिक क्यों प्रतिपादन किया ?

निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥

अर्थ-इन्द्रियों का निमित्त जो अहंकार है उस से ही पंच-

भूतों में भी इन्द्रियों का कारणत्व स्थापन किया जाता है जैसे आग यद्यपि काष्ठादि रूप नहीं है तथापि उसको लकड़ी आग इत्यादि रूपों से पुकारते हैं इसी तरह इन्द्रियां भौतिक भी नहीं हैं तौ भी उनको भौतिक कहते हैं।

प्रश्न—सृष्टि कितने प्रकार की है ?

उत्तर—छः प्रकार की देखोः—

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिक सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥ १११ ॥

अर्थ—(१) ऊष्मज (जो पसीने से पैदा होते हैं जैसे लीख आदि) (२) अण्डज (जो अण्डे से पैदा होते हैं जैसे मुर्गी आदि) (३) जरायुज (जो झिल्ली से पैदा होते हैं जैसे मनुष्य आदि) (४) उद्भिज्ज (जो जमीन को फोड़कर पैदा होते हैं पेड़ आदि) (५) सांकल्पिक (जैसे सृष्टि आदि में बिना माता पिता के देव ऋषि पैदा होते हैं (६) सांसिद्धिक (जैसे खान में धातु बनते हैं) आचार्य (कपिल जी) ने यही छः प्रकार की सृष्टि मानी है। लेकिन इन छः प्रकार के सिवाय और किसी तरह की सृष्टि नहीं है ऐसा नियम भी नहीं। क्योंकि शायद किसी दशा में भूतों की सृष्टि इन से अन्य प्रकार की हो। आचार्य के निश्चय (हकीकात) से तो छः ही प्रकार की सृष्टि देखने में आती है।

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेश पूर्ववत् ॥ ११२ ॥

अर्थ—इन सब प्रकारकी सृष्टियों का साधारण उपादान कारण पृथिवी है इसलिये इनको पार्थिव कहना योग्य है और जो पांचभूतों का व्यपदेश (नाम) सुना जाता है वह पूर्वकथन (पहिले कहा हुआ) के समान समझना चाहिये अर्थात् मुख्य उपादान कारण पृथिवी है और सब गौण हैं।

प्रश्न—इस शरीर में प्राण ही प्रधान (मुख्य) है इस लिये प्राण को ही देह का कर्ता मानना चाहिये ।

उत्तर—न देहारम्भकस्यप्राणत्वमिन्द्रियशक्ति तस्सात्सिद्धेः ॥ ११३ ॥

अर्थ—शरीर का कर्ता प्राण नहीं होसकता क्योंकि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से अपने कार्य को कर्ता है और इन्द्रियों के साथ प्राण का अन्वयव्यतिरेक दृष्टान्त भी होसकता है कि जब तक इन्द्रियां हैं तब तक प्राण हैं जब इन्द्रियां नाश होगई तब प्राण भी नाश होगया इसलिये प्राण को देह का कारण नहीं कह सकते ।

प्रश्न—जब कि शरीर के बनने में प्राण नहीं है तो बिना प्राण के भी शरीर की उत्पत्ति (पैदायश) होनी चाहिये ।

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात् ॥ ११४ ॥

अर्थ—भोक्ता (पुरुष) के व्यापार से शरीर का बनना हो सकता है यदि वह प्राणोंको अपने२ स्थान पर न लगावे तो प्राण वायु कभी भी ठीक २ रसों को नहीं पका सकता जब रस ठीक तरह से न पकेंगे तो शरीर में सैकड़ों तरह के रोग पैदा होजांयगे और दुर्गन्धि (बास) आने लगेगी अतएव यद्यपि प्राण कारण है लेकिन मुख्य कारण पुरुष को ही मानना चाहिये ।

उत्तर—भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥ ११५ ॥

अर्थ—जो अधिष्ठान (बनाने वाला पन) पुरुष में माना जाता है वह अधिष्ठानत्व यदि प्राण में ही माना जावे तो क्या हानि है ?

अर्थ-इस प्रकार हम भी पुरुष को अधिष्ठाता मानते हैं ।

जैसे राजा अपने भृत्यों (नौकरों) के द्वारा मकानादिकों को बनवाता है और वह मकानादि राजा के बनाये हुवे हैं इस प्रकार लोक में प्रसिद्ध होते हैं और उन मकानों का मालिक भी राजा ही है। इस ही प्रकार पुरुष भी प्राण और इन्द्रियों के द्वारा शरीर को चलाता है परन्तु अकेला आप नहीं चलता और विना उसके यह शरीर चल नहीं सकता इस से वोही अधिष्ठाता समझा जाता है। अब इससे आगे पुरुष को मुक्ति दशा में स्वरूप आदि कहते हैं।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ ११६ ॥

अर्थ-समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष को ब्रह्मरूपता होजाती है अर्थात् जैसा ब्रह्म आनन्द स्वरूप है वैसे ही जीव भी आनन्द स्वरूप होजाता है। इस सूत्र का अर्थ और टीकाकारों ने ऐसा किया है कि समाधि सुषुप्ति मोक्ष इन तीनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्म होजाता है परन्तु ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि रूपशब्द का सादृश्य अर्थ है जैसा कि अमुक मनुष्य देवस्वरूप है इसके कहने से यह प्रयोजन सिद्ध होता है कि यह देव नहीं है किन्तु देवताओं के से उसमें गुण हैं (विद्वांसो हि देवाः) जो विद्वान् हैं उन को ही देवता कहते हैं इस बात को कह भी चुके हैं। इसीसे उसको देव स्वरूप कहा गयाहै यदि देवता ही कहना स्वीकार होता तो अमुक मनुष्य देवता है इतना ही कहना योग्य था। इसलिये इस कहे हुवे सूत्र में भी ब्रह्मरूप कहने से यह ही प्रयोजन है कि जीव में ब्रह्म कैसे कितने ही गुण इन अवस्थाओं में होजाते हैं परन्तु जीव ब्रह्म नहीं होता है यदि आचार्य को भी यही बात स्वीकार होती कि मुक्त जीव ब्रह्म होजाता है तो 'ब्रह्मरूपता' न कहते, किन्तु "ब्रह्मत्वम्" ऐसा कहते। जो ब्रह्म को और जीव को एक मानते हैं उनका मत इस ज्ञापक से दूषित हुआ।

प्रश्न—जब समाधि और सुषुप्तिमें भी आनन्द प्राप्त हो जाता है तो मुक्ति के लिये उपाय करनेकी क्या जरूरत है और मुक्ति में अधिक कौनसी बात रही ?

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ ११७ ॥

अर्थ—समाधि और सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है सो थोड़े ही समय के लिये होता है और उसमें बन्ध भी बना रहता है मोक्ष का आनन्द बहुत समय तक बना रहता और बन्ध का भी नाश हो जाता है यह ही भेद समाधि और सुषुप्ति इन दो तरह के आनन्दों में और मोक्ष के आनन्द में है।

प्रश्न—समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखती हैं परन्तु मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं दीखता इसलिये उसमें आनन्द न कहना चाहिये।

उत्तर—द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥११८॥

अर्थ—जैसे समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखती हैं वैसे ही मोक्ष भी प्रत्यक्ष दीखता है वह प्रत्यक्ष इस प्रकार होता कि जब तक मनुष्य किसी कर्म को करके उसका फल नहीं भोग लेता है तब तक उस कर्म के साधन करने के लिये उसकी नीयत नहीं होती। जैसे पहले भोजन कर चुके हैं तो दूसरे दिन भी भोजन करने के लिये उपाय किया जाता है। इस ही तरह जब पहले कभी जीव मोक्ष के सुख को जान चुका है तब फिर भी मोक्ष सुख के लिये उपाय करने की नीयत होती है। यदि यह कहा जावै कि इस जन्म में जिस मनुष्य ने कभी राज्य सुख नहीं भोगा है परन्तु उस की यह इच्छा रहती है कि राज्य का सुख प्राप्त हो। इसका यह उत्तर है कि राज्य में जो सुख होता है उसको तो नेत्रों से देखते हैं इससे यह साबित हुआ कि या तो मोक्ष का सुख कभी आप उठाया है अथवा किसी को मोक्ष से आनन्दित देखा है इसलिये उस

की मोक्ष सुख में नीयत होती है यही प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान से इस प्रकार मोक्ष को जान सकता है कि सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है उसको नाश करनेवाले चित्त के रागादि दोष हैं और वैरागादिक ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार नाश नहीं होसकते हैं जब ज्ञान प्राप्त होजायगा तब सुषुप्ति आदि सब अवस्थाओं की अपेक्षा जिस में अधिक समय तक आनन्द की प्राप्ति हो ऐसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं ।

प्रश्न—समाधि में तो वैराग्य से कर्मों की वासना कमती होजाती है इस वास्ते समाधि में तो आनन्द प्राप्त होसकता है परन्तु सुषुप्ति में वासना प्रबल होती है तो पदार्थों का ज्ञान भी अवश्य होगा अर्थात् वासनाऐं अपने विषय की तरफ खैंचकर उन में जीव को लगादेंगी जब पदार्थ का ज्ञान रहा तो आनन्द प्राप्ति कैसी ?

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—जैसे वैराग्य में वासना कमती होकर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती इसी तरह निद्रा दोष के योग से भी वासना अपने विषय की ओर नहीं खैंच सकती क्योंकि वासनाओं का निमित्त जो संस्कार है वह निद्रा के दोष से बाधित हो चुका है इस वास्ते सुषुप्ति में भी समाधि की तरह आनन्द रहता है पहले इस बात को कह चुके हैं कि संस्कार के लेश से जीवन्मुक्त का शरीर बना रहता है ।

प्रश्न—जब संस्कार से शरीर बना रहता है वह एक ही संस्कार उस जीव के प्राण धारण रूपी क्रिया को दूर करदेता है या जुदी २ क्रियाओं के वास्ते जुदे२ संस्कार होते हैं ।

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कार भेदाबहुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस संस्कार से शरीर का कार्य चलरहा है वह एक ही संस्कार निवृत होकर शारीरक क्रियाओं को भी दूर कर देता है हर एक क्रिया के वास्ते अलग २ संस्कार नहीं मानने चाहियें क्योंकि बहुत से संस्कार हो जायगे और उन बहुत से संस्कारों का होना व्यर्थ है।

प्रश्न–सुषुप्ति अवस्था में बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता इस कारण उस दशा में शरीर को भोगायतन ठीक नहीं

उत्तर–न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपिभोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१ ॥

अर्थ–जिस में बाह्य बुद्धि होती है उस को शरीर कहते हैं यह नियम भी नहीं है क्योंकि मृतक शरीर में बाह्य बुद्धि नहीं होती है तो क्या उसको शरीर नहीं कह सकते हैं। और वृक्ष गुल्म औषधि बनस्पति तृण वीरुद्ध आदिकों में बहुत से जीव भोग के निमित्त रहते हैं और उनका बाहर के पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता यदि बाहर के पदार्थों के ज्ञान से ही शरीर माना जावे तो उन के शरीर को शरीर न मानना चाहिये।

प्रश्न–क्या वृक्ष में जीव है कि नहीं?

उत्तर–वृक्ष में जीव नहीं है किन्तु यहां वृक्ष में रहने वाले जीवसे अभिप्राय है क्योंकि गूलर आदि के फलों में जो जीव रहते हैं उनको बाहर के पदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं होता।

प्रश्न–यदि वृक्ष में जीव न हो तो वह बढ़ नहीं सकता।

उत्तर—बढ़ना घटना जीव का धर्म नहीं प्रकृति का धर्म

है कि संयोग से चीजें बढ़तीं और वियोग से घटती हैं यहां तक कि पत्थर और पहाड़ भी बढ़ते हैं।

प्रश्न—जिन में जीव है वे अन्दर से बढ़ते हैं और जिन में जीव नहीं वे बाहर से बढ़ते हैं चूंकि वृक्ष अन्दर से बढ़ते हैं। इस वास्ते इन में जीव मानना चाहिये।

उत्तर—यह कोई नियम नहीं कि जो अन्दर से बढ़ते हैं उन में अवश्य जीव हो किन्तु जो चीज़ आग के सबब से बढ़ती है और जो पानी के सबब से बढ़ती है वह बाहर से बढ़ती है।

प्रश्न—अन्दर से बढ़ने वाली चीज़ नज़र नहीं आती।

उत्तर—चने जब उबाले जाते हैं तब अन्दर से बढ़ते हैं यहां तक कि पहले से दूने बढ़ जाते हैं।

प्रश्न—वृक्ष में जीव मानने से क्या सन्देह उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—पहले तो यह सन्देह होगा कि एक वृक्ष में जितने फल हैं उन सब में एक जीव है या बहुत से जीव हैं यदि कहो कि एक जीव है तो बीच के टूटने से उससे वृक्ष पैदा नहीं होसकता और यदि बहुत जीव हैं तो एक शरीर के अभिमानी बहुत से जीव नहीं होसकते।

प्रश्न—जड़ पदार्थों के सदृश बाहरी ज्ञान से जो पृथक् होजाता है उस में क्या प्रमाण है?

स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥

अर्थ—"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतांनरः" शरीर से पैदा हुए कर्म के दोषों से मनुष्य स्थावर योनि को प्राप्त होताहै इस बात को स्मृतियां कहती हैं इस से सिद्ध होता है कि स्थावर भी शरीर हैं।

प्रश्न—जबकि वृक्षादिकों को भी शरीरधारी मानते हो तो उनमें भी धर्म्मा धर्म मानने चाहियें।

न दहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्य श्रुतेः १२३

अर्थ—देहधारी मात्र को शुभाशुभ कर्मों का अधिकार नहीं दिया गया है किन्तु श्रुतियों ने मनुष्यजाति को ही धर्माधर्म का अधिकार प्रतिपादन किया है। देह के भेद से ही कर्म भेद है इस बात को अगाड़ी के सूत्र से सिद्ध करते हैं।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोप भोगदेहो भयदेहाः ॥ १२४ ॥

अर्थ—उत्तम मध्यम अधम इन तीन तरह के शरीरों की तीन व्यवस्था हैं और उनके वास्ते ही धर्म आदि अधिकार हैं। एक कर्म देह जो सिर्फ कर्मों के करते २ ही पूरा होजाय जैसे कि अनेक ऋषि मुनियों का जन्म तप के करने ही में पूरा होजाता है। दूसरा उपभोग देह जैसे अनेक पशु पक्षि कीटादि का शरीर कर्मफल भोगते २ ही पूरा होजाता है। तीसरा उभय देह है जिसने कर्म भी करे हों और भोग भी भोगे हों जैसे सामान्य मनुष्यों का शरीर केवल दो प्रकार के देहों के लिये कर्म की विधि है भोग्ययोनि के वास्ते नहीं मनुष्य के अतिरिक्त और सब उपभोग देह अर्थात् भोग्ययोनि हैं इसलिये उनको धर्म्माधर्म का विधान नहीं है।

न किञ्चिदप्यनुशायिनः ॥ १२५ ॥

अर्थ—जो मुक्त होगया है उसके वास्ते कोई भी विधान नहीं है। और न उसको किसी विशेष नाम से कहसकते हैं।

प्रश्न—जीव को इस शास्त्र में नित्य माना है तो उस जीव के आश्रय में रहने वाली बुद्धि को भी नित्य मानना चाहिये।

न बुद्धयादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वन्हिवत् ११६

अर्थ-यद्यपि बुद्धयादि का आश्रय जीव नित्य है तो भी बुद्धि आदि नित्य नहीं हैं जैसे चन्दन का पात्र शीत वाला होता है परन्तु आग के संयोग होनेपर उसकी शीतलता आग में नहीं होसकती।

आश्रयासिद्धेश्च ॥ १२७ ॥

अर्थ-जीव बुद्धि का आश्रय होही नहीं सकता इनका सम्बन्ध इस तरह है जैसे स्फुटिक और फूल का है इस वास्ते प्रतिबिम्ब कहना चाहिये आश्रय नहीं। इस विषय पर यह सन्देह होता है कि आचार्य योग की सिद्धियों को सच्ची मानते हैं और उन के द्वारा मुक्ति को भी मानते हैं परन्तु योग की ऐसी भी सैकड़ों सिद्धियां हैं जो समझ में नहीं आतीं। इस विषय पर आचार्य आप ही कहते हैं।

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः १२८

अर्थ-जैसे औषधियों की सिद्धि होती है अर्थात् एक एक औषधि से अनेक रोगों की शान्ति होती है इस ही तरह योग की सिद्धियों को भी जानना चाहिये। कपिलाचार्य पुरुष को चैतन्य मानते हैं, अतएव जो पृथिवी आदि भूतों को चैतन्य मानते हैं उन के मत को दोषयुक्त ठहरा कर अध्याय को समाप्त करते हैं।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च
सांहत्येऽपि च ॥ १२९ ॥

अर्थ—मिलने पर भी भूतों में चैतन्य नहीं होसकता यदि उन में चेतनता होती तो उनके प्रभाग २ होनेपर भी दीखती, किन्तु पृथक होने पर उनको जड़ देखते हैं तो चेतन

कैसे मानें ? "साहत्येपि च" ऐसा दो बार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

इति सांख्यदर्शने पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः

अथ सांख्यदर्शने ।

षष्ठाऽध्ययारम्भः

पहिले पांच अध्यायों में महर्षि कपिलजी ने अनेक प्रकार के प्रमाण और युक्तियों का खण्डन किया। अब इस ग्रन्थ के छठे अध्याय में अपने सिद्धान्त को बहुत सरल रीति पर कहेंगे कि जिस से इस दर्शनशास्त्र का सार बिना प्रयास अर्थात् थोड़ी मेहनत से ही समझ में आसके और जो बातें पहिले अध्यायों में कह आये हैं अब उन बातों को ही साररूप से कहेंगे कि जिससे इस दर्शन का सम्पूर्ण सार साधारण मनुष्यों की समझ में भी आजाया करे (या आजावे) इस लिये उन बातों का पुनः कहना पुनरुक्ति नहीं होसकता है।

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥ १ ॥

अर्थ-आत्मा कोई पदार्थ अवश्य है क्योंकि न होने में कोई प्रमाण नहीं दीखता।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात ॥ २ ॥

अर्थ-आत्मा देहादिकों से भिन्न पदार्थ है क्योंकि उस आत्मा में विचित्रता है।

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

अर्थ-मेरा यह शरीर है, इस षष्ठीव्यपदेश से भी आत्मा

का देह से भिन्न पदार्थ होना सिद्ध है। यदि देहादिक ही आत्मा होते तो मेरा यह शरीर है ऐसा कहना नहीं हो सकता था। ऐसे कहने से ही प्रतीत होता है कि मेरा यह कोई और पदार्थ है एक नहीं।

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ४ ॥

अर्थ—शिला के पुत्र का शरीर है इस प्रकार यदि षष्ठी का अर्थ किया जावे तो भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि धर्मीग्राहक अनुमान से बाध की प्राप्ति आती है। (भाव इस का यह है कि) यदि ऐसा कहा जाय कि पत्थर का पुत्र अर्थात् जो पत्थर है वही पत्थर का पुत्र है इस में कोई भी भेद नहीं दीखता। इस ही प्रकार जो आत्मा है वही शरीर है ऐसा यदि षष्ठी का अर्थ किया जावे तो भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण देखने में नहीं आता जो शिला में पिता पुत्र के भाव को सिद्ध करता हो।

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥ ५ ॥

अर्थ-दुःख के अत्यन्त निवृत्त होने से अर्थात् बिलकुल दूर होने से मोक्ष होता है।

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादाभिलाषः ६

अर्थ-जिस प्रकार पुरुष को दुःखों से क्लेश होता है उस प्रकार सुख से उस की अभिलाषा नहीं होती। अर्थात् सुखों से अभिलाषाओं का पूरा होना नहीं होता क्योंकि सुख भी प्रायः दुःखों से मिले हुवे हैं।

न कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥

अर्थ-कहीं पर भी कोई सुखी नहीं दीखता किन्तु सुखी दुःखी दोनों प्रकार से दीखते हैं।

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार कुछ थोड़ा बहुत सुख प्राप्त भी हुआ तौ भी सुख दुःख के निश्चय करने वाले विद्वान् लोग उस सुख को भी दुःख में गिनते हैं क्यों कि उस में भी दुःख मिले हुवे होते हैं जैसे कि विष का मिला हुआ मिष्ट पदार्थ (मीठी चीज़) इस वास्ते सांसारिक सुख को छोड़कर मोक्ष सुख के वास्ते उपाय करना चाहिये ॥

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैध्यात् ॥९॥

अर्थ—जब कि किसी को भी सुख प्राप्त नहीं होता तो मुक्ति के वास्ते उपाय करना निष्फल है क्योंकि मुक्ति में भी सुख नहीं प्राप्त होसकता। ऐसा न समझना चाहिये। सुख भी दो प्रकार के हैं एक मोक्ष है, वह सुख और प्रकार का है उस में किसी प्रकार के दुःख का मेल नहीं है दूसरा सांसारिक सुख है वह और ही प्रकार का है क्योंकि उसमें दुःख मिले हुवे रहा करते हैं ॥

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥ १० ॥

अर्थ—मुक्ति अवस्था में आत्मा निर्गुण रहता है। सांसारिक दशा में लौकिक सुख आत्मा को बाधा पहुंचाते हैं मुक्ति अवस्था में आत्मा को असंग अर्थात् विकृति के संग से रहित श्रुतियों द्वारा सुनाया है ॥

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि सांसारिक दशा में गुणों का सर्वथा पुरुष में ही बोध होता है परन्तु उस प्रकार का बोध अविवेक से पैदा होता है क्योंकि जो अविवेकी हैं वोही सांसारिक कर्मों को पुरुषकृत मानते हैं। परन्तु वास्तव में वह प्रकृति और पुरुषके

संयोग से होते हैं इस लिये संयोग जन्य है।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥ १२ ॥

अर्थ—अविवेक को प्रवाहरूप से अनादि मानना चाहिये यदि सादि मानोगे तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि उसको किसने पैदाकिया ? यदि प्रकृति और पुरुष से पैदा हुआ तब उन से ही पैदा हुआ और उनका ही बन्ध करै यह दोष होगा। दूसरा यह प्रश्न होसकता है। यदि कर्मों से इसकी उत्पत्ति मानें तो इस प्रश्न को अवकाश मिलता है कि कर्म किससे उत्पन्न हुए हैं ? इस लिये इन दोनों दोषों के दूर करने के लिये अविवेक को अनादि मानना चाहिये।

न नित्यःस्यादात्मवदन्यथानुच्छित्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ—अविवेक नित्य नहीं होसकता यदि नित्य ही माना जायगा तो उसका नाश न हो सकेगा जैसे आत्मा का नाश नहीं होता है और उस अविवेक के नाश न होने से मुक्ति न हो सकेगी इसलिये अविवेकको प्रवाहरूपसे अनादि (अनित्य) मानना चाहिये।

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह अविवेक भी प्रतिनियत कारण से नाश हो जाता है इस लिये अनित्य है। जैसे अन्धेरा प्रकाशरूप प्रतिनियत कारण से नाश होजाता है इस लिये वह अविवेक नित्य नहीं होसकता।

प्रश्न—प्रतिनियत कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिससे उस कार्य की उत्पत्ति का नाश अवश्य होजाय जैसा अन्धेरे के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये।

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस अविवेक के नाश करने में भी प्रतिनियत

(जिससे अवश्य नाश होजाय) अन्वय व्यतिरेक से निश्चय कर लेना चाहिये वह अन्वय यही है कि विवेक के होने से इसका नाश और विवेक के न होने से अविवेक का होना प्रतीत होता है यही अन्वय व्यतिरेक कहने का तात्पर्य है।

प्रकारान्तरासम्भवादविवेक एव बंध ॥ १६ ॥

अर्थ—सिवाय अविवेक के जब कोई और प्रकार बन्ध में हेतु नहीं दीखता तो ऐसा मानना ही ठीक है कि अविवेक ही बन्ध है और विवेक ही मोक्ष है। कोई वादी इन तीन सूत्रों से जो कि अगाड़ी कहे जायंगे मुक्ति सम्बन्ध में पूर्व पक्ष करता है।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ १७॥

अर्थ-मुक्त को फिर बन्ध योग नहीं होता अर्थात् जो मुक्त हो चुका है वह फिर नहीं बन्ध सकता है। क्योंकि "न स पुनरावर्त्तते" (वह फिर नहीं आता है) इस श्रुति से मुक्त होनेकर नहीं आता ऐसा सिद्ध होता है।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८ ॥

अर्थ-यदि मुक्त का बन्ध योग माना जाय तो अपुरुषार्थत्व सिद्ध होता है।

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९ ॥

अर्थ—बद्ध और मुक्त में अविशषापत्ति अर्थात् बराबरी प्राप्त होती है क्योंकि जो मुक्त नहीं है वह अब बन्धा हुआ है और जो मुक्त होजायगा उसको फिर बन्धन प्राप्त होजायगा।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २० ॥

अर्थ-जिस प्रकार कि मुक्ति का वादी ने पूर्वपक्ष किया उस प्रकार की मुक्ति को आचार्य नहीं मानते। किन्तु अन्तरा-

यों के (विघ्नों के) ध्वंस (नाश) हो जाने के सिवाय और किसी प्रकार की मुक्ति आचार्य नहीं मानते।

तत्राप्यविरोधः ॥ २१ ॥

अर्थ–जो श्रुति आदिकों का दोष प्रतिपादन किया वह योग्य नहीं क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर मुक्त को भी पुनरावृत्ति लिखी है कि मुक्त फिर लौट आता है। शंकराचार्य्य ने भी इस श्रुति का अर्थ इस कल्प में न लौटना माना है दूसरे कल्प में लौटना शंकराचार्य्य तथा आनन्दगिरि आदि ने माना है। इसलिये मुक्ति से फिर बन्धता नहीं ऐसा कहना योग्य नहीं हो सकता। दूसरा यह जो दोष कहा कि पुनर्बन्ध होनेसे बद्ध मुक्त दोनों बराबर होजायगे सो भी योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य रोगी है उसकी बराबरी निरोगी के साथ किसी प्रकार नहीं होसकती और जो निरोगी है वह भी कालान्तर (कुछ दिनों के बाद) में रोगी होसकता है। परन्तु यह विचार करके यह भविष्यत् (अगाड़ी के समय में, रोगी होगा अतः रोगी ही बराबर है। उस के साथ भी रोगी का सा व्यवहार नहीं करसकते, इसलिये न तो मुक्त की पुनरावृत्ति मानने में श्रुति में विरोध प्राप्त होता है और न युक्ति से ही विरोध होता है।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२ ॥

अर्थ–उत्तम मध्यम अधम तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं इस कारण यह कोई नियम नहीं है कि श्रवण मनन आदि संयोगों से सब की ही मुक्ति हो।

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अन्न हैं उनको दृढ़ता के लिये उचित है कि श्रवण मनन आदि योग के अंगो का अनुष्ठान करें तो कुछ दिनों के बाद मुक्ति को प्राप्त हो सकेंगे।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४ ॥

अर्थ–जिस में सुखस्थिर हो वोही आसन है इस बात को पहिले कह आये हैं अतः पद्मासन मयूरासन इत्यादिक भी मोक्ष के साधन हैं, या योग के अङ्गों में उनको गिनती है यह नियम नहीं है।

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥

अर्थ–जिसमें मन निर्विषय होजाय उसी का नाम ध्यान है। और यह ध्यान ही समाधि का लक्षण है। अब समाधि और सुषुप्ति के भेद को दिखाते हैं।

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥२६॥

अर्थ—समाधि और सुषुप्ति इन दोनों में अविशेष अर्थात् समानता है ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि समाधि में उपरोग (विषयवासना) को रोकना पड़ता है इसलिये सुषुप्ति की अपेक्षा समाधि विशेष है।

निःसंगेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥ २७ ॥

अर्थ–यद्यपि पुरुष निःसंग है तथापि अविवेक के कारण उस में विषयों की वासनाएँ माननी चाहियें।

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥॥ २८

अर्थ—जैसे जवा का फूल और स्फटिक मणि को धोरे रखने से उपराग होता है। वैसा उपराग पुरुष में नहीं है किन्तु अविवेक के कारण से पुरुष में विषय वासनाओं का अभिमान कहना चाहिये।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥२९॥

अर्थ–ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदिकों से विषय वासनाओं का निरोध (रुकावट) हो सकता है।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३० ॥

अर्थ—लय (सुषुप्ति) विक्षेप (स्वप्न) इन दोनों अवस्थाओं के निवृत्त होने से विषय वासनाओं का निरोध होजाता है यह आचार्यों का मत है।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात ॥ ३१ ॥

अर्थ—समाधि आदि के करने के वास्ते स्थान का कोई नियम नहीं है जहां चित्त प्रसन्न हो वहीं समाधि होसकती है।

प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥ ३२ ॥

अर्थ-उपादना कारण प्रकृति को ही माना है महदादिकों को प्रकृति का कार्य माना है।

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योगत्वाभावात् ॥ ३३ ॥

अर्थ—आत्मा नित्य भी है तौ भी उस को उपादान कारण कहना केवल भूल है। क्योंकि जो बातें उपादान कारण में होती हैं वे बातें आत्मा में नहीं दीखतीं (स्पष्ट भाव यह है) यदि आत्मा ही सब का उपादान कारण होतो तो पृथिवी आदि सब चैतन्य होने चाहिये थे। परन्तु यह बात देखने में नहीं आती।

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रुतियों के विरोध से आत्मा के संबन्ध में कुतर्क (खोटे प्रश्न) करते हैं उनको किसी प्रकार आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ-परम्परा सम्बन्ध से भी प्रकृति को ही सब का कारण मानना चाहिये जैसे घटादिकों के कारण अणु हैं और अणुओं का कारण परमाणु है इसी तरह परम्परा संबन्ध से भी सबका कारण प्रकृति ही है।

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–प्रकृति के कार्य सब जगह दीखते हैं। इस कारण प्रकृति विभु है।

गतियोगेप्याद्यकारणताहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ–यद्यपि शरीर में गमनादि क्रियाओं का योग है तौ भी उसका आद्यकारण (पहिला सबब) अवश्य मानना होगा जैसे अणु यद्यपि सूक्ष्म हैं तथापि उन का कारण अवश्य ही माना जाता है।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥ ३८ ॥

अर्थ–प्रसिद्धता तो प्रकृति ही की दीखती है इससे अधिक द्रव्यों को मानने का नियम ठीक नहीं हैं क्योंकि कोई तीनों द्रव्य मानते हैं, कोई सोलह द्रव्य मानते हैं इस कारण उनका कोई नियम ठीक नहीं है और प्रकृति के सब कार्य दीख रहे हैं इस लिये उसके ही कारण मानना चाहिये।

सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—सत्व रज तम यह प्रकृति के धर्म नहीं हैं किन्तु प्रकृति के रूप हैं सत्वादि रूप ही प्रकृति है।

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥ ४० ॥

अर्थ–यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टि का आप भोग नहीं करती तथापि उसकी सृष्टि पुरुष के लिये है जैसे ऊंट अपने स्वामी के लिये केशर को ले जाता है ऐसे ही प्रकृति भी सृष्टि करती है।

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

अर्थ–प्रत्येक मनुष्य के कर्मों की वासनायें भिन्न २ प्रकार की होती हैं इस ही कारण से प्रकृति की सृष्टि भी अनेक प्रकार की होती है एक सी नहीं होती हैं।

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—समता और विषमता के कारण उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जब प्रकृति की समता होती है तब उत्पत्ति और जब विषमता होती है तब प्रलय होता है यही बात संसार में दीखर ही है कि जिन२दो औषधि (दवाईयों) को बराबर भाग मिलाकर यदि खाया जाता है तो लाभ होता है और कमती बढ़ती मिलाकर खाने से बिगाड़ होता है।

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

अर्थ—जब प्रकृति को इस बात का ज्ञान होजाता है यह पुरुष मुक्त होगया फिर उसके वास्ते सृष्टि को नहीं करती है। यह बात लोक के समान समझनी चाहिये जैसे कि कोई मनुष्य किसी को बन्धन में से छुड़ाने का उपाय करता है जब वह उसको उस बन्धनमें से छुड़ा देता है तो उस उपाय से निश्चिन्त हो बैठता है क्योंकि जिसके लिये उपाय किया था वह कार्य पूरा होगया।

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ४४

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती है परन्तु मुक्त को बद्ध नहीं करसकती क्योंकि जिस निमित्त से प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती थी वह अविवेक मुक्त जीवों में नहीं रहता है।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जीव बहुत हैं क्योंकि प्रत्येक शरीर में उनकी अलग २ व्यवस्था दीखती है।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि ऐसा कहा जाय कि सूर्य एक है परन्तु उस की छाया के अनेकों स्थानों में पड़ने से अनेक सूर्य दीखने लगते हैं इस ही प्रकार ईश्वर एक है किन्तु शरीर रूपी उपाधियों

के होने से अनेकता है तो भी ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो एक ब्रह्म के सिवाय और दूसरे को मानते ही नहीं हैं यदि वह लोग ब्रह्म और उपाधि को मानेंगे तो अद्वैतवाद न रहेगा किन्तु द्वैतवाद हो जावेगा।

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यदि दोनों ही मानें तो प्रमाण से विरोध होता है क्योंकि यदि उपाधि को सत्य मानें तो जिन प्रमाणों से अद्वैत की सिद्धि करते हैं उनसे विरोध होगा यदि उपाधि को मिथ्या मानें तो जिन प्रमाणों से उपाधि को सिद्ध करते हैं उन से विरोध होगा। अब इस विषय पर आचार्य अपना मत कहते हैं :-

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ४८

अर्थ—द्वैत अद्वैत इन दोनों से हमारा कोई विरोध नहीं है। क्योंकि ईश्वर अद्वैत तो इस लिये है कि उसके बराबर और कोई नहीं है। द्वैत इस वास्ते है कि जीव और प्रकृति के गुण ईश्वर की अपेक्षा और प्रकार के मालूम होते हैं। इस वास्ते ऐसा न कहना चाहिये कि पहिला पक्ष सत्य है वा दूसरा। क्योंकि एक पक्ष की पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण नहीं दीखता किन्तु जीव और ईश्वर के पार्थक्य सिद्ध करने वाले प्रमाण दीखते हैं।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥ ४९ ॥

अर्थ—ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है इस लिये जो चाहे सो कर सकता है अर्थात् चाहे तो घटादि रूप हो जाय, इस प्रमाण से यदि ब्रह्म को अद्वैत कहकर अद्वैतवाद की सिद्धि की जाय तो कर्त्ता और कर्म का विरोध होगा क्योंकि ऐसा कहीं नहीं देखने में आता कि कर्त्ता कर्म होगया हो जैसे घट का कर्त्ता कुम्हार है और उस कुम्हार का कर्म घट (घड़ा) है तो दोनों को भिन्न २ पदार्थ मानना होगा ऐसा नहीं कहसकते कि कुम्हारही घट है।

जड़व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

अर्थ—जीव जड़ पदार्थों में मिलकर उनको भी प्रकाश करदेता है इस वास्ते वह प्रकाश स्वरूप है क्योंकि यदि जीव में प्रकाश करने की शक्ति न होती तो शरीर में गमनादिक क्रियायें न होसकती थीं।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः॥ ५१॥

अर्थ-जिन श्रुतियों से अद्वैत की सिद्धि होती है उन से और जो द्वैत को सिद्ध करती हैं उन से कुछ भी विरोध न होगा क्योंकि जो ईश्वर को छोड़कर जीव वा शरीर को ईश्वर मानते हैं उन को समझाने के लिये वे श्रुतियां हैं अर्थात् ईश्वर को उन श्रुतियों ने अद्वैत अद्वितीय एक आदि विशेषणों से इस लिये कहा है कि उस के समान दूसरा और कोई नहीं है अतः द्वैत के मानने से श्रुतियों से विरोध नहीं होता।

जगतसत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात् ५२

अर्थ—जगत् सत्य है क्योंकि इसका कारण नित्य है और किसी समय में भी इसका बाध (रोक) नहीं दीखता है। इस सूत्र का आशय पहिले अध्याय में कह आये हैं इस लिये विस्तार नहीं किया है।

प्रकारान्तरासम्भवात् सदुत्पत्तिः॥ ५३॥

अर्थ—जब कि प्रकृति के सिवाय और कोई कारण इस का दीखता नहीं तो ऐसा कहना चाहिये कि इसकी उत्पत्ति अर्थात् पदार्थ से नहीं है किन्तु सत् पदार्थ से ही है।

अहङ्कारः कर्त्ता न पुरुषः॥ ५४॥

अर्थ-संकल्प विकल्प आदियों का कर्त्ता अहंकार है किन्तु जीव नहीं है क्योंकि जो विचार बुद्धि में उत्पन्न होता है उसके बाद मनुष्य कार्यों के करने में लगता है और उस बुद्धि को पुरुष का प्रतिबिम्ब ही प्रकाश करता है।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्॥ ५५॥

अर्थ जिस का अन्त जीव में हो उस को भोग कहते हैं वे भोग जीव के कर्मों से होते हैं इस कारण भोगों का अन्त जीव में मानना चाहिये।

चन्द्रादिलोकऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—चन्द्रलोक के जीवों में भी आवृत्ति दीखती है क्योंकि जिस निमित्त से मुक्ति और बन्ध होते हैं वह वहां के जीवों में भी बराबर ही दीखते हैं। भाव यह है कि चन्द्रादि लोकों के रहने वाले जीव भी एकबार मुक्त होकर फिर कभी बन्धन में नहीं पड़ते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु वहां के भी मुक्त जीव लौट आते हैं क्योंकि वह चन्द्रादिक लोक भी भूलोकों के समान ही है।

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

अर्थ-जैसे इस लोक के पुरुषों की श्रवण मात्र से मुक्ति नहीं होती है इस ही तरह चन्द्र लोक के मनुष्यों की भी श्रवण मात्र से मुक्ति नहीं होती हैं।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥ ५८ ॥

अर्थ जो जन्मान्तरों से मुक्ति के वास्ते यत्न करते चले आते हैं वे लोग केवल श्रवण मात्र ही से मुक्ति को प्राप्त हो सकते हैं इस लिये "श्रुत्वा मुच्यते" सुनने से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है यह श्रुति भी सार्थक हो जायगी।

गतिश्रुतश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोगदेशकाललाभोव्योमवत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आत्मामें जो गति सुनी जाती है उस को इस तरह से समझना चाहिये कि यद्यपि आत्मा शरीर में व्यापक है तथापि उस शरीर रूपी उपाधि के योग से अनेक तरह के भोग देश और समयों का योग इस में पाना जाता है। अर्थात् भोगों की प्राप्ति, देशान्तरगमन और प्रातः संध्या आदि का अतिक्रम

आत्मा ही में मालूम होता है परन्तु आत्मा वास्तव में इन से पृथक् है जैसे घट का आकाश, घट को उठाकर दूसरी जगह चला जाता है इस बात को पहिले कह चुके हैं कि बिना जीव के सिर्फ वायु ही से शरीर का कार्य नहीं चलता उसपर आचार्य अपना सिद्धान्त कहते हैं।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ६०

अर्थ—यदि आत्मा इस शरीर का अधिष्ठाता न हो तो शरीर में दुर्गन्धि आने लगे इस कारण प्राण को शरीर का अधिष्ठाता नहीं कह सकते हैं।

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादि वदङ्कुरे ॥ ६१ ॥

अर्थ-यदि अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राण को शरीर का अधिष्ठाता कहें तो भी योग्य नहीं क्योंकि प्राण का जब प्रारब्ध के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो उसको हम अधिष्ठाता कैसे कह सकते हैं? जैसे अंकुर के पैदा होने में जल भी हेतु है परन्तु बिना बीज के जल से अंकुर पैदा नहीं हो सकता इसी तरह यद्यपि शरीर की अनेक क्रियायें प्राण से होती हैं तौ भी वह प्राण बिना आत्मा के कोई क्रिया नहीं कर सकता।

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहंकारधर्मा ह्येते ॥६२॥

अर्थ—ईश्वर निर्गुण है इस कारण उसको बुद्धि आदि का होना असम्भव (झूंठ) है इस वास्ते वह सब अहंकार के धर्म बुद्धि आदि जीव में ही मानने चाहियें।

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो ईश्वर के गुणों से पृथक् शरीरादि युक्त हैं उस को जीव संज्ञा से बोलते हैं इस बात को अन्वय व्यतिरेक से जानना चाहिये। अर्थात् जीव के होने से शरीर में बुद्धिका

प्रकाश और न होने से बुद्धि आदि का अप्रकाश दीखता है।

अहंकार कर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमा-
णाभावात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—अहंकार ही धर्म आदि कार्यों का करने वाला है किन्तु धर्म को ईश्वर नहीं कराता क्योंकि यदि धर्मादि ईश्वर स्वयम् बनावे तो फल देना अन्याय हो जाय।

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥ ६५ N

अर्थ—जिस वस्तु के कर्त्ता को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं उस कर्त्ता का हम अनुमान कर लेते हैं। दृष्टान्त-जैसे कि किसी घड़े को देखा और उस के कर्त्ता कुम्हार को नहीं देखा तब अनुमान से मालूम करते हैं कि इसका बनाने वाला जरूर है चाहे वह दीखे मत। इसही प्रकार पृथिवी आदि अंकुरों का कर्त्ता भी कोई न कोई अवश्य है।

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस ही प्रकार इन्द्रियों की तन्मात्राओं का कर्त्ता भी महत्तत्व के सिवाय किसी को मानना चाहिये। वह कर्त्ता अहंकार ही है।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बी
जाङ्कुरवत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का स्वभाविक सम्बन्ध भी पुरुष के कर्मों की वासना से अनादि ही मानना चाहिये। जैसे बीज और अंकुर का होना अनादि माना गया है।

अविवेकनिमित्तो वा पंचशिखः ॥ ६८ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कर्म की वासनाओं से नहीं है किन्तु अविवेक से है पंचशिख आचार्य ऐसा कहते हैं।

लिंगशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥ ६६ ॥

अर्थ—लिंग शरीर के निमित्त प्रकृति और पुरुष का स्व स्वामिभाव सम्बन्ध है सनन्दनाचार्य ऐसा मानते हैं।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का चाहे कोई क्यों न सम्बन्ध हो किन्तु किसी न किसी प्रकार से उस सम्बन्ध का नाश हो जाय उसको ही मोक्ष कहते हैं सांख्याचार्य का यही मत है "तदुच्छित्तिः" ऐसा दो वार कहना वीप्सा में है। इस अध्याय में जो २ विषय कहे गये हैं इन विषयों को पहिले पांच अध्यायों में खूब फैलाकर कह चुके हैं इस वास्ते इन सूत्रों की व्याख्या बहुत फैलाकर नहीं की है।

इति सांख्यदर्शने षष्ठोऽध्यायः पूर्तिमगात्
समाप्तश्चायं ग्रन्थः

